॥ श्रीहरिः ॥

132

स्वर्ण-पथ

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

रामचरण महेन्द्र

॥ श्रीहरिः ॥

स्वर्ण-पथ

(आध्यात्मिक जीवनके विकासका पथ-प्रदर्शक)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

लेखक—

प्रो० रामचरण महेन्द्र

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या

विषय		पृष्ठ-संख्या

॥ श्रीहरि: ॥

भूमिका

अध्यात्म-संदेश

हे ईश्वरके प्राणप्रिय राजकुमारो!

हमें आपके सम्मुख सदियों पुराना एक चिरनवीन संदेश रखना है; क्योंकि हमारा विश्वास है कि उससे आपको यथेष्ट प्रेरणा प्राप्त होगी। द्वापरके अन्तमें ऋषि शमीकने महाराज परीक्षित्‌को यह संदेश भेजा कि शृंगी ऋषिके शापसे तक्षकके काटनेसे राजा मृत्युको प्राप्त होगा, संदेश सुनते ही महाराज विह्वल हो उठे, केवल सात दिन पश्चात् मृत्यु! महाराजको इस समय ज्ञान हुआ कि मानव-जीवन कितना अमूल्य है! उन्होंने एक सरसरी नजर अपने सम्पूर्ण जीवनपर डाली तो उन्हें प्रतीत हुआ कि वास्तवमें अबतक उन्होंने कुछ भी ठोस या स्थायी कार्य नहीं किया है। अपनी बाल्यावस्थासे मृत्युतकके दीर्घकालको हलके जीवन तथा निम्न दृष्टिकोणके साथ गवाँ दिया है। अपनी बड़ी भूलका अनुभव कर वे पश्चात्तापकी वेदनासे विक्षुब्ध हो उठे। सात दिनके अल्पकालमें ही राजाने अपना परलोक सुधारनेका भगीरथ-प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्होंने पूर्ण श्रद्धासे आध्यात्मिक अनुष्ठान किया। शेष जीवनका प्रत्येक पल उन्होंने भगवान्‌में लगाया। कुछ ही समयमें उनके रोम-रोमसे सच्ची आध्यात्मिकता प्रकाशित होने लगी। उन्हें आत्माकी दीक्षा प्राप्त हुई और उन्होंने वास्तविक जीवनमें पदार्पण किया। मृत्युका भय उनके लिये एक नया पथ दिखानेवाला बना और परिणामस्वरूप वे आत्मवान् महापुरुष बन गये।

आप शायद समझते हैं कि बूढ़े तोते क्योंकर कुरान पढ़ सकते हैं। शायद आप कहें कि 'हम तो अब बहुत आयुवाले हो चुके, अब क्योंकर आत्मसंस्कार करें? हमारी तो कुछ एक ही साँसें शेष रही हैं, हमसे कुछ होना-जाना नहीं है।' यदि आपकी ऐसी निराशाभरी धारणाएँ हैं तो सचमुच ही आप भयंकर भूल कर रहे हैं। आत्मसंस्कार-जैसे महान् कार्यके लिये कभी देर नहीं होती। जितनी आयु शेष है, उसीको परम पवित्र कार्यमें व्यय कीजिये। जीवनके प्रत्येक क्षणके ऊपर तीव्र दृष्टि रखिये कि हर एक क्षणका सदुपयोग हो रहा

है या नहीं। आध्यात्मिक साधन प्रारम्भ करते समय मनमें यह कल्पना न कीजिये कि 'अमुक महाशय देखेंगे तो हँसेंगे।' संसारके झूठे लोक-दिखावेसे सर्वनाश हो जाता है तथा ऐसे अनेक व्यक्ति मर-मिटते हैं जो वास्तवमें उठनेकी क्षमता रखते हैं। नित्य बहुत-से ऐसे व्यक्ति मरते हैं, जो इसी लोक-दिखावेकी मिथ्या भावनाके डरसे जप, यज्ञ, साधन, प्रत्याहार, आसन, प्रार्थना, मौनव्रत या दृढ़ चिन्तन इत्यादि कोई भी आत्मसंस्कारका कार्य प्रारम्भ न कर सके। यदि ये डरपोक लोग समयको ठीक खर्च करनेकी उचित योजना बनाते तो बहुत सम्भव था कि प्रभावशाली जीवन व्यतीतकर वे कुछ नाम या यश कमाते, अपने उद्योगोंसे अपना तथा दूसरोंका भला करते एवं मानव-जीवनको सफल कर सकते।

हे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माओ!

जो समय व्यतीत हो गया, उसके लिये शोक मत कीजिये। जो शेष है, वह भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि उचित रीतिसे काममें लाये जानेपर आप अपने जीवनको सफल कर सकते हैं तथा गर्व करते हुए संसारसे विदा हो सकते हैं। आजसे ही सँभल जाइये तथा अध्यात्म-पथको परम श्रद्धापूर्वक ग्रहण कीजिये। तत्त्वतः ईश्वर स्वयं ही साधकोंको अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये प्रयत्नशील है। वह आपकी गुत्थियोंको स्वयं खोलता हुआ चलेगा। मध्य गुरु आत्मा है। उसीको विकसित कीजिये। प्रारम्भमें जो छोटी-मोटी कठिनाइयाँ आवें, उनसे कदापि भयभीत न होइये। यही परीक्षाका समय होता है। दो-चार बार कठिनाइयाँ पार करनेपर आप आत्मिक दृढ़ता प्राप्त कर लेंगे। आगे बढ़नेवाले महान् पुरुषोंको इसी आत्मिक दृढ़ताका बल होता है, इसी गुप्त प्रेरणासे वे प्रलोभनोंका तिरस्कार करनेमें समर्थ होते हैं।

हे नवीन युगके अग्रदूतो!

आज विश्वभरमें खतरेका बिगुल भयंकर नाद कर रहा है। उसका संदेश है कि हम सावधान हो जायँ तथा संसारकी अनित्यताके पीछे जो महान् सत्य अन्तर्निहित है, उसे पहचान लें। अपने अन्तःकरणका कूड़ा-करकट बुहार डालें। इस विषयमें महाभारतमें कहा गया है—

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

अर्थात् 'हे पाण्डुपुत्र! आत्मारूपी नदी संयमरूपी पवित्र तीर्थवाली है। उसमें सत्यरूप जल भरा हुआ है। शील उसका तट है और दया तरंगें हैं। उसीमें स्नान करो, जलके द्वारा अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं हो सकती।' वास्तविक शुद्धिकी ओर बढ़िये। असली शुद्धि तो एकमात्र आत्मज्ञानसे ही होती है।

हे ईश्वरीय तेजपिंडो!

मत समझिये कि आप माया-मोहके बन्धनोंमें जकड़े हुए हैं और दुःख-द्वन्द्वोंसे भरा हुआ जीवन व्यतीत करनेवाले तुच्छ जीव हैं, क्षुद्र मनोविकारोंके दास हैं। तुच्छ इच्छाएँ आपको दबा नहीं सकतीं। स्वार्थकी कामनाएँ आपको अस्त-व्यस्त नहीं कर सकतीं। प्रबल-से-प्रबल दुष्ट आसुरी भावोंका आपपर आक्रमण नहीं हो सकता। आपको विषय-वासना अपना गुलाम नहीं बना सकती। आप बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धिमें विषयोंके प्रलोभनोंसे बचनेका बल है। अतः विवेकवती बुद्धिको जाग्रत्कर अध्यात्म-पथपर आरूढ़ हो जाइये। यही वास्तविक मार्ग है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

स्वर्ण-पथ

इस विशाल संसारमें ईश्वर ही सुख-शान्ति तथा आनन्दका आगार, सम्पूर्ण विभिन्न पदार्थोंका उत्पादक और स्वामी है; वरणीय मोक्षादिके सूत्रधार एवं संसारके नियामकके रूपमें वही आदिसत्ता हमारे प्रीतिपूर्वक गान एवं एकाग्रताका आधार होना चाहिये; हमें ईश्वरके गुणोंकी स्तुति कर स्वयं उनके अनुरूप बननेका सतत प्रयत्न करना चाहिये—इसी स्वर्ण-पथपर अग्रसर होकर हमारा शूलमय जीवन सफल तथा आनन्दमय बन सकता है।

मनुष्यके समस्त दुःखोंका कारण उसका अहंभाव, दुरभिसन्धि, असत्य एवं अनुचित व्यवहार है। यदि हम स्वयंको ईश्वरका एक अंग मानकर उच्च आध्यात्मिक मनोभूमिकामें निवास करें, आत्माके अनुरूप ही कार्य करें, पशुत्वपर नियन्त्रण रखें तो हमारे दुःख कम हो सकते हैं। आत्मभावको उद्बुद्ध करनेका आधार ईश्वरकी असीम शक्तिमें विश्वास ही हो सकता है। संसारका समग्र हाहाकार इसी केन्द्रबिन्दुसे पृथक् हो जानेके कारण मचा हुआ है। ईश्वरीय मार्गकी आस्तिक भावनामें निवास करनेसे ही मनुष्य हार्दिक शान्ति और सत्य सुखका अनुभव करता है।

स्वर्ण-पथ ईश्वरीय मार्ग है। जीवनकी सच्ची समृद्धि प्राप्त करने और अशान्तिसे मुक्तिके निमित्त हमें आस्तिक बनकर अपने जीवन एवं आदर्शोंका निर्माण करना चाहिये। स्वर्ण-पथ हमारे जीवनको उन्नत और सफल बना सकता है। प्रभु हमें इसपर दृढ़तासे अग्रसर होनेमें सहायक हों।

हरबर्ट कालेज, कोटा
(राजस्थान)

निवेदक—
रामचरण महेन्द्र

॥ श्रीहरिः ॥

स्वर्ण-पथ

उठो

जीवनकी निद्रासे उठ जाइये

आपने बहुत-सा समय व्यर्थके कार्योंमें नष्ट किया है। दूसरोंका छिद्रान्वेषण कर, उनकी बुराइयों तथा कमजोरियोंको बताकर, उनकी खराबियों तथा नुकसानोंपर चुपचाप प्रसन्न होकर आपने अपनी व्यक्तिगत उन्नतिको रोक दिया है। जो व्यक्ति दूसरोंकी कटु आलोचना या ईर्ष्यामें ही रत रहता है, उन्हींकी दुष्टताओंके बुरे परिणामोंको देखता है, वह सोया हुआ है। उसे यह ज्ञान नहीं कि उसका अपना कुछ भी हित-साधन इन बातोंसे होनेवाला नहीं है।

मनुष्यकी यह स्वाभाविक कमजोरी है कि वह अपनेमें बुद्धि तथा दूसरेके पास धन अधिक मा़नता है। अपनी बुद्धिमत्ताकी तारीफ करते वह नहीं थकता। उसे अपना प्रत्येक कार्य उत्तम प्रतीत होता है। चोर, दुष्ट, कातिल, कम तौलनेवाला, कामसे जी चुरानेवाला, कालाबाजार करनेवाला, झूठ बोलकर अपना कार्य निकालनेवाला, अपने-आपको बड़ा चालाक समझता है। उस अबोधको यह ज्ञात नहीं कि चिराग-तले अंधकार रहता है।

ऐसे व्यक्ति सोते हुए ही कहे जायँगे, जिनके जीवनमें कुछ योजना नहीं, कोई विशेष लक्ष्य नहीं। वे यह नहीं जानते कि जीवनसे वे आखिर क्या चाहते हैं? उनके भविष्यमें क्या होनेवाला है? आगेके लिये उन्नतिकी उन्होंने क्या-क्या योजनाएँ बनायी हैं? जो यह नहीं जानता कि उसके एक पुत्र-पुत्री होनेसे कितनी बड़ी जिम्मेदारी उसके ऊपर आ गिरती है, उसकी शिक्षा, सम्बन्ध या जीविकाके लिये उसे कितनी तकलीफें मोल लेनी होंगी, वह एक प्रकारसे सोया ही पड़ा है।

आज आपकी नौकरी लगी है, गृहस्थीकी गाड़ी मजेमें चल रही है; कल नौकरी छूट जाय, तो कार्य कैसे चलेगा? क्या आपके पास कोई ऐसा साधन है, जिसके द्वारा यह कार्य चलता रहे? क्या आपने अपनी योग्यताओंको

इतना बढ़ा लिया है कि यदि इस स्थानसे नौकरी छूटे तो दूसरी जगह मिल सकती है?

आपकी वृद्धावस्थामें क्या होगा? जब शरीर अशक्त हो जायगा; आपके बाल-बच्चे सहायताको आगे न आयेंगे, तब आप क्या करेंगे? किस प्रकार अपना व्यक्तिगत व्यय चलायेंगे? क्या आपने इस प्रश्नपर विचार किया है? यदि नहीं, तो कब करेंगे? रोज आपकी शक्तिका कुछ-न-कुछ हिस्सा कम होता जाता है, शक्तिका संचित कोष कम हो रहा है; जीवन-राशि लुटी जा रही है। फिर क्यों वृद्धावस्थाको सुख-शान्तिमय बनानेके लिये आप कुछ नहीं करते?

आपकी प्रत्येक पुत्री अथवा पुत्र राष्ट्रका भावी नागरिक है। क्या आपने कभी सोचा है कि उसे क्या बनाना चाहते हैं? आपकी पुत्रीका क्या भविष्य रहेगा? उसकी शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वभावका क्या हाल है? क्या वह आगे टिक सकेगा? कदाचित् आप सोचते हैं कि बच्चोंके लिये प्रचुर धन-संग्रह करके छोड़ जायँ, वे सुखी रहेंगे। यह नितान्त भ्रान्तिमूलक तथ्य है। संसारमें योग्यता ही सबसे बड़ा धन है। जितनी ऊँची योग्यता रहेगी, उतना ही रुपया आपके बाल-बच्चोंके पास रहेगा। अतः रुपया-पैसा छोड़नेके स्थानपर योग्यता, ऊँची विद्वत्ता, सामर्थ्यका धन उनके पास छोड़नेकी योजना बनाइये।

अपने स्वास्थ्यके सम्बन्धमें क्या आप कभी विचार करते हैं? क्या आगे चलकर आपकी वर्तमान शक्तियाँ स्थिर रह सकेंगी? स्वास्थ्य और शक्तिके खजानेमेंसे कहीं आप गंदा जीवन व्यतीत कर अधिक राशि तो नहीं समाप्त कर रहे हैं? क्या आपकी दिनचर्या ऐसी है, जो आपको अधिक-से-अधिक प्रसन्नता देती है? अधिक-से-अधिक सुख, शान्ति, आनन्द प्रदान करती है? आपका प्रत्येक अवयव उचित रीतिसे कार्य करता है या नहीं?

इस प्रकारके सैकड़ों प्रश्न हैं, जो आपको सोचने चाहिये। यदि आप सोये पड़े हैं, तो कुछ नहीं हैं। यदि नींदसे उठ जायँ, तो ये प्रश्न बड़ा महत्त्व रखते हैं।

प्रिय बन्धु! मोहकी निद्रासे उठ जाइये। देखिये—आपकी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, स्वास्थ्यसम्बन्धी क्या स्थिति है? इस स्थितिको प्रकाशमय बनाइये। निरन्तर आगे बढ़ते रहिये।

जागते रहो!

घनघोर रात्रिमें जब कभी आँख खुल जाती है, तब अकस्मात् गश्त लगाते हुए चौकीदारकी आवाज सुन पड़ती है—'जागते रहो!' डरावनी रातमें पहरे-वालोंकी पुकार सुनकर चौंकनेका अवसर आपके जीवनमें भी अवश्य आया होगा, पर क्या आप इस तथ्यकी उपयोगिताको समझ पाये हैं? पुनः-पुनः विचार कीजिये, आप सोये पड़े हैं या जागते हैं? शोक! महाशोक!! आँखें खोले रहनेपर भी मनुष्य मूर्खता, अल्पज्ञता और परतन्त्रताके अन्धकारमें सोये पड़े हैं। जिस प्रकार सुप्तावस्थामें शिथिलता, मन्दता, अकर्मण्यता धर दबाती है, उसी प्रकार वे निरन्तर आलस्य और सुस्तीका जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मूल्यवान् समय अत्यन्त तीव्र गतिसे कालको अधिकाधिक पास ला रहा है; किंतु उनके शिथिल जीवनमें प्रवृत्तिशीलता आती ही नहीं। जिसके जीवनमें कोई उद्देश्य नहीं, महत्त्वाकांक्षा नहीं, उत्साह नहीं, फिर वह क्यों न चींटीकी चाल चले?

कितने ही ऐसे हैं जो ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, परच्छिद्रान्वेषण, काम-क्रोधादिमें अपनी मूल्यवान् वस्तु आत्माको भूल बैठे हैं। 'अमुक व्यक्ति हमारी बुराई करता है, आओ उसे नीचा दिखायें; फलाँ ऐसा है, फलाँ वैसा है, वह हमें दोष लगाता है, यों ही डराता है, परेशान करता है, हम उसको कलंकित करेंगे।' अधिकांश व्यक्ति बस, ऐसी ही ऊल-जलूल व्यर्थकी बातोंमें महान् मूल्यवान् जीवनको बरबाद किया करते हैं; उन्हें आत्माकी, तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सुधि नहीं, हरदम रुपये-पैसेका जटिल प्रश्न मनमें चक्कर लगाया करता है और उसकी पूर्तिमें उन्हें अवकाश प्राप्त नहीं होता।

कुछ ऐसे हैं जो अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी या कुटुम्बीकी मृत्युके शोकमें रो रहे हैं। दुःखित-चित्त शोकातुर हो विचार कर रहे हैं कि 'हाय! मुझसे कौन अपराध हुआ, क्या भूल-चूक हो गयी? मैंने कौन-सा बिगाड़ किया जो मेरा दर्जा घट गया? किसने मेरी चुगली की? हाय! मेरे व्यापारमें तकदीर फूट गयी। विधिने भाग्यका तख्ता पलट दिया। अब क्या करूँ? किसे अपना दुखड़ा सुनाऊँ? कैसे करूँ? मुझे दुःख है! बड़ा दुःख है! मेरे समान बदकिस्मत कौन होगा?'

हमारे एक रईस मित्र हैं, जिन्हें छः सौ रुपयेसे अधिक मासिक आय है।

नौकर-चाकर, बाग-बगीचे, फूल-फुलवाड़ी, कमरेकी शोभा-सजावट, मोटर, रेडियो सभी कुछ हैं। रोजाना हजामत बनती है, दिनमें कई ड्रेस बदली जाती है। मेहमानकी सेवा-शुश्रूषा भी दिल खोलकर की जाती है। मेवा-मिठाई, नाना प्रकारके मिष्टान्नका समाँ बँधा रहता है। कभी-कभी बात हो जाती है तो कहते हैं 'प्रोफेसर साहब! अच्छे नौकर नहीं मिलते। मालिश, हाथ-पाँवको दबाना तो कोई जानता ही नहीं। आपकी नजरमें कोई अच्छी गाड़ी हो तो दिलवाइयेगा। सिनेमामें मैंने आपके लिये भी सीट रिजर्ब करा ली है। अबके मंसूरी हमारे साथ चलियेगा।' अनेक प्रकारकी विभूतिसे युक्त इन महोदयको बहुमूत्र रोग हो गया है, जो बहुत उपचार करनेपर भी दूर न हो सका। उसके कारण वे बेताब, अशान्त और परेशान रहते हैं। उन्हें कुछ नहीं सुहाता।

प्रश्न है, क्या ये व्यक्ति जाग रहे हैं? क्या ये वास्तविक जीवनसे परिचित हैं? वर्षके आधे समयतक सोनेवाले कुम्भकर्णसे इनकी स्थिति कितनी अच्छी है?

आलसी और सुस्त पड़े रहकर तुम कदापि अपनी उन्नति नहीं कर सकते। निर्माल्य स्थितिमें पड़े रहनेसे मनुष्य अपनी महान् शक्तियोंसे च्युत हो जाता है। जिन मनुष्योंको अपनी वास्तविक शक्तिका ज्ञान नहीं, जो संसारके ताने-बानेमें साक्षात् परमात्मस्वरूप आत्माको विस्मृत कर बैठे हैं, वे ही सोते हैं। जिसने अपना भाग्य दूसरोंके हाथमें सौंप दिया है, वह सोता है। जो जड, सुस्त, निर्जीव यन्त्रवत् जीवन व्यतीत करता है, वह सोता है। जो व्यर्थकी आवश्यकताओंकी शृंखलामें बँधा है, अनुचित-उचित रूपसे मान-बड़ाई, लोलुपताका शिकार है, वह सोता है। जो आत्माकी सुध भूल सुखकी तलाशमें बाह्य पदार्थों, विजातीय वस्तुओंको ढूँढ़ता-फिरता है, वह स्व-रूपको भूलकर सो रहा है।

आप सोते हैं या जाग रहे हैं?

यदि आप जागते हैं तो आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें समय लगाइये। इसके लिये चित्तशुद्धिकी आवश्यकता प्रतीत होगी। चित्तशुद्धि होनेपर ही आपको अपने वास्तविक ज्ञानके दर्शन होंगे। चित्तशुद्धिका प्रधान साधन निष्कामता है। मनकी मैल छुड़ानेके लिये राग-द्वेष छोड़िये। तन, मन, धनसे सेवा-कार्य कीजिये। अपना अपकार करनेवालेके प्रति उपकार कीजिये, उससे प्रेम कीजिये। प्रेम ही आपका वास्तविक स्वरूप है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

(गीता २। ५२)

'हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे मुक्त हो जायगी, तभी तू सुने हुए और सुने जानेवाले सब विषयोंसे वैराग्य प्राप्त कर सकेगा।' इस मोहनिद्रासे जितनी शीघ्रतासे सम्भव हो, मुक्त होनेका प्रयत्न मुमुक्षु पुरुषको करना उचित है। यही आत्मोन्नतिका प्रथम सोपान है।

मनुष्य! क्षुद्र स्वार्थी चेष्टाओंवाले वातावरणमें अपना समय नष्ट करनेके हेतु तुम संसारमें नहीं आये हो। माया-मरीचिकामें भ्रमसे विषयोंमें सुखकी कल्पना कर अपने वास्तविक स्वरूपको विस्मृत कर देनेके लिये तुम्हारी सृष्टि नहीं हुई। अज्ञान-तिमिराच्छन्न हो तमोगुणके आवरणसे आच्छादित तुम्हें नहीं रहना है। विविध कामनाओंसे तुम्हें अपनी बुद्धि विक्षिप्त नहीं होने देनी है। तुम्हें इस लोक और परलोकके समस्त दृष्ट श्रुत या अदृष्ट अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो उस परम पदार्थमें निज सत्ताको विलीन कर देना है, जो किसी कालमें न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला है। जो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। जिसका शरीरके नाशसे क्षय नहीं होता।

अनेक व्यक्ति स्वभावतः उस परोक्ष सत्तासे तादात्म्यकी कामना रखते हुए भी सो रहे हैं। गीताका प्रवचन है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरे लिये (अर्थात् भगवत्-तत्त्वकी प्राप्तिके निमित्त) प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें कोई विरला ही—भगवत्-परायण मुमुक्षु ही मुझे तत्त्वसे जान सकता है।'

अतः जागते रहिये, अब सोनेका समय नहीं है।

तुम महान् हो

हम अपने-आपको जैसा मानेंगे, वैसा ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट चित्र हमारे अन्तःकरणमें स्थिर होगा, फिर वही मनोभाव हमारी आकृतिमें परिलक्षित होकर नित्यप्रतिकी क्रियाओं, वाक्यों तथा परस्पर व्यवहारमें प्रकट होकर संसारके समक्ष आयेगा। मनुष्य धन, पद, विद्या, ऐश्वर्य इत्यादि प्राप्त कर लेनेपर भी अपने-आपको जैसा मानता रहेगा, अपने व्यक्तित्व, शक्तियों, गुणोंका जो स्थायी मोल आँकता रहेगा, तदनुसार ही संसारके अन्य व्यक्ति भी उसे परिगणित करते रहेंगे।

हे आत्मस्वरूप मनुष्य! क्या तू सदा-सर्वदा अपने-आपको निकृष्ट तथा निर्माल्य-स्थितिमें ही डाले रहेगा? क्या तू मनोबलसे शून्य बन्धनका ही जीवन बिताते-बिताते यथार्थ ज्ञानको खो देगा? क्या तू अपनी महत्त्वाकांक्षाओंको सुप्तावस्थामें ही पड़े रहने देगा? क्या अपनी आत्माके गहन प्रदेशमें अध्यात्मके प्रकाशकी एक रश्मि भी न घुसने देगा? असंख्य भ्रान्तियोंके विषय-चक्रमें क्या तू अपने वास्तविक स्वरूपको सदाके लिये विस्मृत कर देगा? क्या तू सदैव अपने-आपको दीन, हीन, निर्बल ही मानता रहेगा?

क्या तुझे स्मरण नहीं कि संसारके सर्वोत्कृष्ट महापुरुष अपनी योग्यताको निर्भयतापूर्वक मानते थे। उनके मनमें अपना चित्र अत्यन्त उज्ज्वल था। उनके चित्ताकाशमें शुभ्र आत्मज्योति जगमग करती थी। उन्होंने अपने मनःक्षेत्रमें ऐसे उत्कृष्ट चित्र विनिर्मित किये थे कि उनकी आत्मदृष्टि सदैव उन्हें उसी ओर प्रेरित करती रहती थी।

हमारे मनःक्षेत्रमें जिन-जिन विचारों, भावनाओं तथा आकांक्षाओंका उद्रेक होता है, वे ही क्रमशः हमारे भाग्यका, भविष्यका और सफलताका निर्माण किया करती हैं। जिसे हम मानवीय विद्युत्-प्रवाह (Personal Magnetism)-के नामसे पुकारते हैं, वह हमारी विचार-शक्तिकी प्रबल तरंगें हैं, जो मनःक्षेत्रसे इच्छाशक्तिके अनुसार प्रबलता धारण कर प्रकट हुआ करती हैं। जिस व्यक्तिमें

शुभ विचारसम्पन्न इच्छाशक्ति होती है, उसका विद्युत्-प्रवाह वायु-मण्डलमें अधिक क्षोभ उत्पन्न करता है, और उसका प्रभाव तथा कार्य-सिद्धि आश्चर्यजनक होती है। जो व्यक्ति अपने विषयमें तुच्छ विचार रखता है, अपनेको बहुत छोटा मानता है और छोटा गिनता है, उसमें यह विद्युत्-प्रवाह लोप हो जाता है। उसका मुख तेजस्वी नहीं रहता। वह दूसरेको आकर्षित नहीं कर पाता, उसका वजन तिनकेके समान होता है।

हमारा एक-एक विचार हमारे व्यक्तित्वके निर्माणमें लगा है। हमारी एक-एक कल्पना, एक-एक महत्त्वाकांक्षा हमें ऊँचा-नीचा किया करती है। हम जैसा सोचते-विचारते हैं, प्रकट करते हैं, बोलते हैं, हमारी जैसी-जैसी मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, जैसी भावनाओंमें हम निरन्तर रमण करते हैं, तदनुकूल ही हमारा पथ प्रशस्त अथवा कण्टकाकीर्ण होता है। हम अपनी शक्तियोंको जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही कार्य वे करने लगेंगी। उनकी विशेषता यही है कि हम जैसी चाह करेंगे, वे स्वभावत: उन्हीं पदार्थोंको उत्पन्न करेंगी। यदि आपने उनसे बहुत कुछ आशा की है तो निश्चय रखिये, वे आपको बहुत कुछ सहायता प्रदान करेंगी। वे अवश्यमेव आपके उत्कृष्ट मनोरथोंको क्रियात्मक स्वरूप दे देंगी।

आपकी उन्नतिका उद्‌गमस्थान आपकी आत्मा है। यदि आपने अपनी आत्मामें भटकते हुए मनको इष्ट-भावनापर आरूढ़ कर लिया है तो आपका आधा कार्य पूर्ण हो गया है। मनको हीनत्वकी भावनासे मुक्त कर ध्येय-मार्गपर एकाग्र करनेका अभ्यास असत्‌की ओरसे सत्‌की ओर अग्रसर होना है।

मुझे आप अपना मन-चित्र दिखायें तो मैं स्पष्ट बता सकता हूँ कि आप किस ओर चलना चाहते हैं। कारण, जिस वस्तु या मूर्तिविशेषपर मानसिक नेत्र एकाग्र किये जायँगे, तदनुसार ही सिद्धि होगी। आत्मप्रदेशमें निवास करनेवाले ईश्वरीय अंशका विकास ही मानवका सर्वोच्च विकास है। अत: कभी ऐसा न मान बैठिये कि 'मुझमें योग्यता, दिव्यता, शक्ति नहीं है।' आपको अपने-आपको हीन कहनेका अधिकार नहीं है। ऐसा कहकर आप अपने आत्मरूपका अपमान करते हैं। आपका कल्याण इसीमें है कि अपने-आपको ईश्वरका अंश

बच्चा निकाला। वह कबूतरोंके अन्य बच्चोंकी तरह पृथ्वीपरसे दाना चुगने लगा, उन्हींकी तरह बंदी जीवन व्यतीत करने लगा और क्रमशः तद्रूप ही हो गया। उसके पंखोंकी शक्ति क्षीण हो गयी; पंजों और चोंचमें तेजी न रही; वह शिथिलताका बन्धनयुक्त जीवन व्यतीत करने लगा। एक दिन कबूतरवालेको उस पक्षिराजकी कुदशापर करुणा हो आयी। उसने मन-ही-मन तर्क-वितर्क किया, अभद्र कायरताके वातावरणमें पलनेसे मैंने पक्षियोंके सम्राट्की क्या दशा कर डाली है। इन दुर्बल जीवोंके साथ रहते-रहते यह बलवान् पक्षी अपनी वास्तविकताको विस्मृत कर बैठा है। यह वीर तो राज्य करने और स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करनेके लिये बना है। यह तो बिलकुल निश्चेष्ट हो गया। ऐसा सोचकर उसने उस पक्षिराजको हाथमें लिया, ऊपर उठाया और कहा—

'पक्षिराज! तू पक्षियोंका सम्राट् है। सब पक्षियोंमें महान् है। सबका एकमात्र स्वामी है। तू शासनके लिये बना है। तेरा उद्देश्य अत्यन्त ऊँचा है। इन छोटे पक्षियोंके संसर्गमें रहनेसे तू अपने वास्तविक स्वरूपको विस्मृत कर बैठा है। अपने प्रबल सामर्थ्यको मोहान्धकारसे तूने विनष्ट कर दिया है। अपनी शक्तिके परम तेजोमय रन्ध्रोंको तूने गहन अन्धकारसे आवृत कर दिया है। अपनी छिपी हुई महान् शक्तियोंसे अनभिज्ञ होकर तू आज निकृष्टतर जीवन व्यतीत कर रहा है। हे पक्षिराज! तू साधारण नहीं है। नगण्य नहीं है। तू सामान्य पक्षियोंमें रहनेके लिये नहीं बना है। तेरा आसन सबसे उच्च है, तेरी शक्तियाँ अत्यन्त प्रबल हैं। उठ! तू अपनी शक्ति पहचान।'

ऐसा संकेत कर उसने बाजको ऊपर उठाया और उड़ानेका प्रयत्न किया। वह उड़ा, किंतु कुछ काल पश्चात् पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ा। दूसरे, तीसरे लगभग एक सप्ताहतक इसीकी पुनरावृत्ति होती रही। पिंजरबद्ध बाजमें नवीन शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ और वह उड़कर अपने क्षेत्रमें प्रविष्ट हो गया। उसके जीवनमें एक नवीन पृष्ठ खुला।

बाजकी तरह क्या तुम भी अपने वास्तविक स्वरूपको विस्मृत कर बैठे हो? सम्भव है असत्-चिन्तन और हीनत्वकी भावना (Inferiority Complex)-के कारण तुमने अपनी अधोगति कर ली है। भ्रान्तिके ऊल-जलूल

रहनेके कारण तुमने अपनी अधोगति कर ली है; किंतु अब भी पुनरुत्थानके लिये यथेष्ट काल है। तुम यदि विचारकला (The right way thinking)-में पारंगत हो जाओगे तो पुनः आप-अपने स्वामी बन सकते हो। विचारोंके अनेक परमाणु मिलकर मनुष्यके व्यक्तित्व (Personality)-का निर्माण करते हैं। जितने समयतक एक विशेष विचार मानव-मस्तिष्कमें प्रस्तुत रहता है, उतने ही कालतक गति-वाहक सूक्ष्म तन्तुओंपर उसका प्रभाव पड़ता है। वातावरणमें परिवर्तन होता है। दिव्य विचारोंको दृढ़तापूर्वक दुहरानेसे, पुनरावर्तनसे, रमण और विहार करनेसे हम चित्तकी उत्पादक अवस्थामें निवास करने योग्य बनते हैं।

जब मनुष्य दृढ़तापूर्वक श्रद्धासे कहता है—'मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूँ, वरं शुद्ध आत्मस्वरूप शक्तिका पुंज हूँ, महान् तेजस्वी हूँ, पूर्ण प्रतिभा-सम्पन्न हूँ, प्रत्येक कार्यमें अपना पृथक् अस्तित्व रखता हूँ और सर्वोत्कृष्ट कार्य ही करता हूँ। शरीर नहीं, जीव नहीं, वरं आत्मा—महान् आत्मा, परम आत्मा हूँ। मैं अपनी शक्तियोंका स्वामी हूँ। मैं अपनी अद्भुत शक्तिको पहचान गया हूँ। अपनी वास्तविकताका अनुभव करने लगा हूँ।' तब ऐसे आत्मसंकेतोंसे उसमें अलौकिक बुद्धि सामर्थ्य और मनकी सुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होने लगती हैं।

अपने-आपके साथ सद्व्यवहार

प्रशस्त पद एवं आत्मगौरवकी स्थापना करनेवाले व्यक्तियोंके जीवनका अध्ययन करनेपर एक तत्त्व जो हमें सर्वत्र उपलब्ध होता है, वह है अपने सम्बन्धमें उच्च धारणाएँ; अपने मानसिक, शारीरिक या स्वास्थ्यके सम्बन्धमें हितैषी भावनाएँ। जो व्यक्ति अपने विषयमें तुच्छ सम्मति रखता है और बेकदरी करता है, वह मानव ईश्वरकी निन्दा करता है; क्योंकि मनुष्य ईश्वरका अंश है, ईश्वरका स्वरूप ही शरीर धारण कर पृथ्वीपर अधिष्ठित होता है, वह ईश्वरकी समस्त विभूतियोंसे अलंकृत है।

दूसरोंके साथ बुराई करनेको आप पाप कहते हैं। इस दुर्व्यवहारको आप घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। बहुत ठीक है; किंतु जब आप स्वयं अपने ही विषयमें निन्द्य विचार रखते हैं, तब भी आप पाप करते हैं। मेरे विचारमें तो यह और भी जघन्य पाप है। दूसरोंके प्रति किये हुए पापको संसार देखता है; पर आपका स्वयं अपने साथ किया हुआ पाप नजर नहीं आता। अन्तर्दृष्टिसे अन्तरात्मा उसे देखता है। वह कभी-कभी आपको धिक्कारता भी है, पर उसके निर्देशोंपर ध्यान न देनेसे वह क्षीण हो जाता है।

ईश्वरने आपको उत्पन्न किया है, उन्होंने सम्पूर्ण विभूतियोंसहित ही आपको पृथ्वीपर भेजा है। जो कुछ कमी या निर्बलता आप अपने अंदर देखते हैं, उसका उत्तरदायित्व स्वयं आपपर है। उसका कारण अज्ञान और आलस्य है।

अपने हितैषी बनें

'मुझे ईश्वरने बनाया है। मैं ईश्वरका रूप हूँ। समस्त संसारकी उच्चताओंका समावेश मुझमें किया गया है। मुझसे श्रेष्ठ जीव संसारमें दूसरा नहीं हो सकता है। मेरा हृदय ईश्वरका मन्दिर है। उसमें सात्त्विक संकल्पोंका ही निवास है। मेरे पैर पवित्र स्थानोंपर ही जाते हैं; मेरी जिह्वा पवित्र शब्दका ही उच्चारण करती है; मैं पवित्र विचारोंको ही मनमें स्थान देता हूँ।'

यदि आप जीवनको वास्तवमें उपयोगी बनाना चाहते हैं तो अपने विषयमें क्षीणता और कमजोरीकी भावनाओंका बहिष्कार कर उपर्युक्त भावना करें। अपने प्रति कर्तव्योंको समझकर उन्हें पूर्ण करनेमें संलग्न हो जायँ।

वे कौन-से कर्तव्य हैं, जिन्हें आपको पूर्ण करना है? सर्वप्रथम अपने शरीरकी देख-भाल है। अन्य वस्तुओंकी भाँति शरीर भी घिसता है, टूटता है, बीमार होता है, खिदमत चाहता है। टूट-फूटके पश्चात् दुरुस्ती चाहता है। जिस प्रकार आप किसी कीमती मशीनसे बड़ी सतर्कतासे काम लेते हैं, जरा खराब होते ही दुरुस्त करानेकी भाग-दौड़ करते हैं, उसी प्रकार शरीर भी है। संसारमें जितनी भी मशीनें हैं, उन सबसे अधिक कीमत इस मानव-शरीरकी है। इसका दाम रुपये-पैसोंमें आँका नहीं जा सकता। इसे कितना भी रुपया देकर खरीद

नहीं सकते। फिर, इस बहुमूल्य मशीनके उपयोगमें कितनी सावधानीकी आवश्यकता है, इसे आप स्वयं सोच सकते हैं। शरीर वह साधन है, जिसमें संसार बनता है। इसीके माध्यमसे संसारका अस्तित्व है। जिस दिन आपकी यह मशीन टूटती है, उसी दिन संसारका भी अन्त हो जाता है। महाप्रलय हो जाता है। अत: शरीरकी उचित देख-भाल करना मानवका प्रथम पवित्र कर्तव्य है। मन्दिरमें परमेश्वरकी पूजा करते हैं; उससे आवश्यक, शरीरमें आत्मारूपी परमेश्वरका जो अंश है, उसकी पूजा है।

कुछ लोग शरीरकी जो बेकदरी करते हैं, उसे देखकर अत्यन्त दु:ख होता है। न उचित खान-पान करेंगे, न स्वस्थ स्थानोंमें रहेंगे, न पर्याप्त विश्राम ही करेंगे। रुपया उनके पास है। रुपयेको वे जीवनसे अधिक मूल्यवान् समझते हैं। जीवनके सामने रुपया अस्थिर, अल्प मूल्यका है। संसारका सब रुपया देकर भी जीवनकी कुछ भी घड़ियाँ वापस नहीं ली जा सकतीं। शरीरमें आसक्ति ठीक नहीं, पर उसकी देखभाल तो परमावश्यक है।

मुझे अपनी छोटी बहिनकी मृत्युकी वह घड़ी याद है। रुपयोंकी मुट्ठियाँ भरकर हम काम कर रहे थे। दवाइयोंमें जो कुछ जिसने बताया वही ले गया। इंजेक्शन, गोलियाँ, परीक्षाएँ—जो कुछ भी मनुष्यका प्रयत्न हो सकता है, किया गया। तीन-तीन डॉक्टर समीप बैठे रहे। रुपयोंसे भरा बटुवा, गहनोंकी आलमारीका गुच्छा उसके पास रखा रहा। बचनेकी कोई आशा न थी। जीवनकी घड़ियाँ निरन्तर कम होती जा रही थीं। वह स्पष्ट स्वरमें एक दृष्टि रुपये, बटुवे, गुच्छे, दूसरी मेरी ओर डालते हुए बोली—'भाई साहब, मुझे बचाइये।' मैं एक दुर्बल मानव, मनुष्यकी अपूर्णतासे अपने-आपको बँधा हुआ पा रहा था। मैं क्या उत्तर देता। जीवन उड़ गया। रुपया यों ही पड़ा रह गया!

आवश्यकता इस बातकी है कि जरा-सी टूट-फूट होते ही जीवनकी रक्षा की जाय। इस ओरसे तनिक भी लापरवाही न की जाय। अधिक दौड़-धूपकी आवश्यकता नहीं है। जितनी आय शरीरका स्वास्थ्य स्थिर रखते हुए रह सके, वही ठीक है। जीविका जीवनके लिये है। धन जीवनकी कमरपर न चढ़ बैठे। जीवनमें परिश्रम कीजिये; किंतु परिश्रमके पश्चात् समुचित विश्रामकी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये।

शरीरके पश्चात् अपनी मानसिक शान्तिको स्थिर रखनेका सतत प्रयत्न होना चाहिये। बाह्य संघर्षोंसे आन्तरिक स्थितिमें उत्तरोत्तर हलचल, तूफान और विद्रोह नहीं चलना चाहिये। उच्च आध्यात्मिक शान्ति, जिसमें समस्त मानव-इच्छाओंका निलय हो, जहाँ इच्छा-आवश्यकताओंका संघर्ष न हो, जीवनको आगे बढ़ानेवाली है।

आप एक साधन हैं, साध्य जीवनका आनन्द है। जितने अंशोंमें आप जीवनका आनन्द ले सकते हैं, उतने ही अंशोंमें जीवनको सार्थक बनाते हैं। आनन्द जीवनका नवनीत है। यह आपको स्वयं ही प्राप्त करना है। जबतक आप अपने विषयमें उच्च धारणाएँ बनाकर संसारकी कर्म-स्थलीमें प्रविष्ट नहीं होते, तबतक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

जियो तो कुछ होकर जियो

सत्-चित्-आनन्दस्वरूप महान् आत्माके पुत्र होते हुए ईश्वर-सदृश अनन्त शक्तियोंके स्वामी बनकर भी तुम निस्तेज और अशक्त होओगे, पाप तथा अज्ञानमें पड़कर परवशताका अनुभव करते रहोगे और अपने-आपको हीन, नीच, पराधीन मानकर आत्माका हनन कर दोगे—यह तुम्हारे निर्माणकर्ताका इष्ट न था।

तुम्हारा मन डगमगाते जलकी तरह चंचल है; वह कभी इधर तो कभी उधर सदैव बहता रहता है। यदि उसमें उत्साहकी उत्तेजना हो तो वह महान् कृत्य सम्पन्न कर सकता है। यदि महत्त्वाकांक्षाकी अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाय तो मानसिक विचाररूपी जल इच्छारूपी वाष्पमें परिवर्तित हो जाता है—जिससे बड़े-बड़े कार्य सुलभ हो जाते हैं।

अपने उद्देश्योंको देखो। उनको सत्यकी तुलापर तौलो। क्या वे पूरे उतरते हैं? क्या तुम अपनी महत्त्वाकांक्षाओंके प्रति खरे हो? क्या तुम उस आदर्शसे संतुष्ट हो? तुम्हारी क्या-क्या प्रेरणाएँ हैं?

अनेक व्यक्ति थोड़ा-सा ही बढ़कर समझते हैं कि उन्नतिकी इति-श्री हो गयी। और ऊपर उठनेकी गुंजाइश नहीं है, हमने जो उपलब्ध कर लिया,यथेष्ट है।

महत्त्वाकांक्षामें संतोषवृत्तिसे उत्साहकी हानि होती है। यदि तुम अपने उत्साहको लूला-लँगड़ा करके अग्रसर होओगे तो तुम्हारी संकल्प-शक्ति (Power Of determination) भी निर्बल हो जायगी; फिर तुम्हारे प्रयत्नों (Efforts)-में दृढ़ताकी न्यूनता रहेगी।

जिन पुष्ट विचारोंकी हमारे अन्तःकरणमें प्रबल सत्ता अंकित होती है, उन्हीं विचारोंके अनुसार हृदय तथा मस्तिष्क भी जाग्रत् होते हैं; कालान्तरमें मन एवं शरीरकी स्थिति भी वैसी ही हो जाती है। आत्मज्ञानके दिव्य सूर्यको प्रकाशित करनेसे मस्तिष्क मानसिक दासतासे मुक्त होता है। मनका प्राण आत्मा है। इसमें प्रवेश करनेसे संशय, भ्रम, भय-भ्रान्तिके जालसे हमारा मन मुक्त हो जाता है।

अपना निश्चय दृढ़ कीजिये

पुस्तकोंके पठन-पाठनमात्रसे निश्चय नहीं होता। दूसरोंके कहने-सुननेसे, उपदेशों या सम्मतियोंसे भी कुछ नहीं होगा। निश्चयका बल अन्तःकरणसे ही प्राप्त होता है। उसकी प्राप्तिके निमित्त कटिबद्ध होकर आत्माका सहारा टटोलना चाहिये। वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों। मन बार-बार अनैच्छिक विषयों,प्रलोभनोंकी ओर आकृष्ट न हो। अस्थिर मन सब विषयोंमें चक्कर काटता रहेगा, लक्ष्यसे विचलित करेगा तथा महत्त्वपूर्ण चिन्तनके संस्कार न जमने देगा।

निश्चय करो कि मनको अपने इच्छित ध्येयमें ही केन्द्रीभूत रखोगे। चारों ओरसे घेरकर निश्चयात्मक इच्छाशक्तिको अपने लक्ष्यकी सिद्धिमें स्थिर करोगे। सब बाधाएँ परिपुष्ट उत्तेजित इच्छाशक्तिके सम्मुख नतमस्तक हो जाती हैं।

कुछ प्रतिकूल विचार बार-बार तुम्हारे मनपर चोट मारते हैं, तुम्हें अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इन जहरीले विचारोंको सावधानीसे बाहर निकालो। इस कूड़े-करकटको निकाल देना ही श्रेयस्कर है। अपनी स्मृतिपटलसे इन अपवित्र विचारोंकी प्रतिच्छाया सर्वदाके लिये निकाल दो।

तुम्हारा जो प्रधान लक्ष्य है, उसीको मानसिक नेत्रोंके सम्मुख रखो। आग्रहपूर्वक वृत्ति स्थिर करनी चाहिये। मनको एक कालमें केवल एक ही उद्देश्यपर केन्द्रीभूत रखो। नेत्र मूँदकर मानस-नेत्रोंको उसीमें स्थिर करो।

तुम्हें जो इष्ट है, जैसा तुम वास्तवमें होना चाहते हो, उसको स्पष्ट लिखकर एक स्थानपर टाँग लो। नित्य दृढ़तापूर्वक उसपर मानसिक प्रवाहको खोलते रहो। एक निश्चित समयपर उस स्थानमें प्रवेश करो, दृढ़तापूर्वक अपने इष्टकी ओर देखते रहो; कुछ काल पश्चात् नेत्र मूँद लो। अन्त:करणके प्रत्येक स्तरमें इसी इष्टका दर्शन करो। तुम्हारे रक्तमें यही इष्ट उष्णता प्रदान करे। तुम्हारा अणु-अणु इसकी सिद्धिके हेतु विह्वल हो उठे। जितनी ही यह दिव्य विह्वलता उपार्जित करोगे, उतना ही उत्तम है। स्मरण रहे, यदि तुम्हारी श्रद्धा न्यून होगी, तुम इसको मिथ्या या अनित्य समझोगे तो कदापि कुछ प्राप्त न कर सकोगे।

निज विश्वासके अनुसार ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। यदि भ्रम है, अविश्वास है तो साधन अपूर्ण ही रहेगा। तुम्हारे मनमें जिन-जिन स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, भय, काम, क्रोध तथा लोभ आदिका प्रादुर्भाव होगा, वे लोहेकी सुदृढ़ जंजीरोंके समान तुम्हें बाँधते जायँगे और सदैव तुम्हारे अन्तर्जगत्‌में भयंकर संघर्ष मचाया करेंगे। संशय तुम्हारी कार्य-सम्पादन शक्तिको पंगु करनेवाला दुष्ट मनोविकार है। यह उद्देश्यके मार्गको अधिकाधिक कण्टकाकीर्ण और अन्धकारमय बनाता है। आत्म-विश्वासकी निर्बलतासे मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है। जहाँ तुम्हारी आत्मश्रद्धामें कमी आयी कि कार्य-सम्पादन-शक्तिमें भी कमजोरी पदार्पण कर जायगी।

उत्पादक अन्तर्बलको उत्तेजित कीजिये!

जो मनुष्य ऊँचा उठनेकी आकांक्षा रखता है और निज मानसिक समस्वरता (Harmony) को ठीक (Adjust) कर प्रामाणिकतासे निज उद्देश्यतक पहुँचना चाहता है, उसे अपने उत्पादक अन्तर्बलको प्रदीप्त करना चाहिये। हमारी उत्पादक शक्तियाँ बीजरूपसे हमारी आत्माके अन्त:पृष्ठमें निहित हैं। आत्माके अन्दर बिलकुल अन्तरमें अतुल शक्तियोंका एक भण्डार है। ये शक्तियाँ

स्वभाववश स्वतः निकलनेको जोर करती रहती हैं। इनकी प्रकृति ही स्वच्छन्द है। डाली-डाली विहार करनेवाले पक्षीकी तरह ये उन्मुक्त रहना श्रेयस्कर समझती हैं। इन्हें आत्माके पुष्प-पल्लवोंपर विहार करने दो, ऐसा न हो कि अर्द्धविकसित अवस्थामें घुटकर ही इनकी हत्या हो जाय।

तुम्हारे विचार, तुम्हारी आकांक्षाएँ, तुम्हारी प्रार्थनाएँ उन मूलोंसे सम्बन्धित हैं, जो आत्मारूपी अनन्त शक्ति-सागरमें फैली हुई हैं और जिनको गति तथा स्पन्दन देनेसे वे तुम्हारी अभिलाषाको उत्तेजना प्रदान करती हैं।

मनुष्यके महान् सामर्थ्योंका एक संकेत शेक्सपीयरने भी किया है—

'What a piece of work Is man! how noble in reason! how infinite in faculty! in form and moving how express and admirable! in action how like an angel ! in apprehension how like a God! the beauty of the world! the paragon of animals!'

अर्थात् मानव भी उस दैवी कलाकारकी कैसी अभिनव कृति है। उसकी तर्क-शक्ति कितनी महान् है! अपने सामर्थ्योंमें कितना अगम, वेश-भूषा तथा कार्योंमें कितना प्रशंसनीय तथा उद्योगशील! कर्मोंमें देवदूतसदृश पराक्रमी, ईश्वरकी प्रतिमूर्ति—संसारका सर्वोच्च सौन्दर्य! जीवोंका सिरमौर।

तुम निज जीवनके द्रष्टा बनो। अपने कृत्योंको मानवताकी कसौटीपर कसो। कहीं तुम अपनी दिव्य शक्तियोंको व्यर्थ ही खराब तो नहीं कर रहे हो?

हमारे मनका आरोग्य

जिस प्रकार मानव-शरीरको नित्यप्रति शारीरिक व्यायामकी आवश्यकता होती है तथा बिना कसरतके शरीर पुष्ट नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार मनका अपना कार्य उचित रीतिसे करनेके लिये कुछ व्यायाम चाहिये। जिस मनुष्यमें दानवकी-सी शारीरिक शक्ति हो, किंतु मनका स्वरूप विकसित न हो, उसे पूर्ण आरोग्य नहीं कहा जा सकता।

मैं ईश्वरका रूप हूँ

ईश्वरने जब सब प्रकारके जलचर, नभचर, स्थलचर जीवोंका निर्माण किया, तब उन्होंने यह सोचा कि अब किसी ऐसे जीवकी सृष्टि करनी चाहिये जो मेरा स्वरूप हो तथा इन समस्त जीवोंपर नियन्त्रण रख सके। उन्होंने अपनी आकृतिका एक जीव निर्माण किया; उसमें अपनी अमोघ शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंका समावेश किया और पृथ्वीपर राज्य करनेके निमित्त भेज दिया। यह असंख्य शक्तियोंका शक्तिपिण्ड, जीवोंका महाराजाधिराज, सृष्टिका सिरमौर, शक्तिका अवतार, परमेश्वरका पुत्र मनुष्य ही था। ईश्वरने मनुष्यको अपने रूपमें बनाया है; उसमें अपनी समस्त शक्तियोंका समावेश किया है।

ईश्वरसे उत्पत्ति होनेके कारण मनुष्यका संकल्प भव्य है। उत्तमोत्तम मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंकी मंजूषा उसके पास है। ईश्वरत्वका प्रतिनिधिस्वरूप होकर उसने संसारपर एकच्छत्र राज्य किया है। बड़े-से-बड़े हिंसक पशुओं, भयंकर विषैले जन्तुओंपर भी मनुष्यका राज्य है।

जब आप ईश्वरके प्रतिनिधि हैं, सर्वोच्च विभूतिके पुंज हैं, तब आपको क्या अधिकार है कि अपनेको दीन, हीन या अभागा समझें? ईश्वरका अपमान आप नहीं कर सकते। ईश्वरत्व संसारकी मूल क्रियात्मक शक्ति है। संसारमें जो सबसे सत्य, सुन्दर, शिव हो सकता है, वह ईश्वरत्वके नाते आपके रगों और पट्ठोंमें प्रवाहित है।

अपने साथ सद्व्यवहार करना सीखिये। आप दूसरोंकी भलाई चाहते हैं। अपने पुत्रकी शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रसिद्धि, हितकामनाके लिये आप एड़ी-चोटीका पसीना एक कर देते हैं। पत्नी, पुत्री, अन्य सम्बन्धियोंके हितचिन्तनमें निरन्तर निमग्न रहते हैं, यह उत्तम भाव है। दूसरोंके हितचिन्तनमें रहना बहुत अच्छा है; किंतु वास्तविक मंगलमय मार्ग तो वह है, जिसके द्वारा आप स्वयं अपने विषयमें हितचिन्तन करते हैं।

विचारोंने तुम्हारी आत्माको जर्जर कर दिया है। व्यर्थकी चिन्ताओं और कल्पित दु:खोंने शैथिल्य और निराशाकी वृत्तिको उत्साहित कर दिया है। स्मरण रखो—तुम इन सब बातोंसे बहुत ऊँचे हो। जरा-जरा-सी क्षुद्र बातोंसे चिढ़ने, नाक-भौं सिकोड़ने, अपने-आपको कोसने, उद्विग्न होने, व्याकुलता या परेशानीका अनुभव करनेके लिये तुम्हारा निर्माण नहीं हुआ है।

तुम साक्षात् ईश्वरके पवित्र अंश हो। अपने-आपको तुच्छ, नगण्य बनाकर तुम स्वयं ही अपना बुरा नहीं कर रहे हो, प्रत्युत परमेश्वरका अनादर करते हो। दुष्ट मनोविकारको आत्मसमर्पण कर तुमने अपनी विलक्षणता, मौलिकता और परमात्मासे प्राप्त प्रज्ञाको पंगु कर दिया है। अन्धकारका आवरण हटाकर विशुद्ध आत्माका दर्शन करो।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंग-प्रत्यंगोंको समेट लेता है, वैसे ही तुम्हें अपनी इन्द्रियोंको विषय-वासनासे समेट लेना चाहिये। क्षण-भंगुर भोगोंके वश होकर तुम अपना असली स्वरूप भूल बैठे हो। तुम्हारे अंग-अंगमें जो परम रहस्य भरा हुआ है, उसे प्रत्यक्ष करो। अपने परमात्म-शुद्ध सात्त्विक स्वरूपका साक्षात्कार ही तुम्हारा मुख्य प्रयोजन है।

प्रियवर! यदि तुम अपने स्वरूपको तुच्छ, हेय, घृणित, नि:शक्त समझोगे तो शनै:-शनै: तुम्हारे दिव्य ईश्वरीय तत्त्वोंका भयंकर क्षय होगा। तुम्हारी अनन्त शक्तिका ह्रास होगा। साधन-पथसे विमुख हो नगण्यताके कारण तुम्हारा पतन होगा, संसार भी तुम्हारा अनादर करेगा। तुम निज विचारोंके अनुसार ही तेज या तुच्छताकी किरणें प्रकाशित करते हो। जैसे-जैसे तुम अपने विचारोंमें परिवर्तन करोगे, वैसे-वैसे ही संसार भी तुम्हारी ओर आकर्षित होकर आयेगा। तुम स्वयं अपने भाग्यविधाता हो।

तुम यह प्रतिज्ञा कर लो कि 'सदा-सर्वदा अपनी भलाईकी ही बात मन-मन्दिरमें अधिष्ठित करूँगा, सदैव अपना हितैषी बना रहूँगा, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, आदर्शों, माहात्म्यके प्रति सच्चा रहूँगा, अपनी इज्जत करूँगा और भविष्यके लिये उत्कृष्ट चित्र स्थापित करूँगा।'

शुभ्र विचार एक महान् नव-जीवन-प्रसारिणी विद्या है। इससे अनभिज्ञ

ही मानते रहें और निरन्तर इस दिव्य अंशको अधिकाधिक जाग्रत् करते रहें।

आपके अंग-प्रत्यंगोंका आदर्श भी अत्यन्त महान् है। वे एक महान् आदर्शके लिये आपको दिये गये हैं। आपकी मानसिक शक्तियोंके आशय भी अत्यधिक उच्च हैं। यह नहीं कि नित्यप्रति दूसरोंकी निन्दा-चुगलीमें या स्वार्थमें ही आप उनका क्षय कर दें या विपत्ति और प्रतिकूलतारूपी तूफानमें निराश होकर रोने बैठ जायँ। कोई शक्ति आपकी दुर्दशा नहीं कर सकती। ईश्वरके महान् पुत्रको कोई उसके उच्च आशयसे कदापि नहीं हटा सकता। कोई अभद्र प्रसंग आपके आन्तरिक प्रदेशको उद्वेलित नहीं कर सकता। आपको अस्त-व्यस्त करनेकी शक्ति प्रतिकूलतामें नहीं है।

आपके अंदर जो ईश्वरीय दिव्य तत्त्व निहित है, उसे प्रकट कीजिये। जो सद्भावनाएँ अंदरसे प्रकाशमें आनेको छटपटा रही हैं, उनपर कुठाराघात न करें। उन्हें बेरोक-टोक प्रकाशमें आने दें। सद्वृत्तियोंके प्रकाशित होनेपर ही आपकी महानतामें अभिवृद्धि हो सकती है। यही आपकी दैवी सम्पदा है। इसके बलपर आप कल्याणमार्गके अनुगामी हो सकते हैं। इसीसे आप विश्वविजेता बन सकते हैं। दैवीसम्पदा क्रोध, मत्सर, द्वेष, स्वार्थकी कुत्सित वृत्तियोंसे आपको ऊँचा उठाये रख सकती है। ईश्वरने आपको ऐसी शक्ति दी है कि उससे दुर्विचारको सरलतासे दबाया जा सकता है।

तनिक उस व्यक्तिकी दशाकी कल्पना कीजिये, जिसके मनमें यह विचार घुस गया है कि 'मैं दीन-हीन हूँ, कमनसीब और गुलाम हूँ।' वह स्वयं अपनी दृष्टिमें हेय है। जैसा दूसरे कह देते हैं, वह उसीको सत्य मानकर चलता है। संसारके स्वार्थी मनुष्य भ्रान्ति और हीनत्वके दीन-हीन विचार ला-लाकर उसके अन्तःकरणमें प्रविष्ट करा देते हैं और वह बेबसी दिखाकर उन्हींके अनुसार कार्य करने लगता है। दूसरेकी धारणाएँ ही उसकी स्थायी वृत्ति बन जाती हैं। विचारोंकी यह परवशता संसारके असंख्य व्यक्तियोंको दुःखद अवस्थामें गिराये हुए है।

बाइबिलके एक स्थलमें एक ऐसे व्यक्तिकी कहानी है, जिसने अपने पालतू कबूतरोंके नीचे बाजका एक अंडा लगा रखा था। यथासमय कबूतरोंने उसमेंसे

स्मरण रखिये, दो बातें रोनेकी होती हैं। यदि धन लुट जाय या बन्धुवर्ग चल बसें तो इनमेंसे एक भी बात क्षोभ करनेकी नहीं है। कारण, ये तो अवश्यमेव होनेवाली ही हैं। फिर ऐसी कौन-सी बातें हैं, जिनके लिये दु:खी होनेकी आवश्यकता है? एक तो यह कि जिन कर्मोंके करनेसे आपको नित्यप्रति कष्ट मिल रहे हैं, आप बार-बार उन्हींको किये जा रहे हैं और फिर कहते हैं कि हम जाग्रत् हैं। दूसरी बात यह कि अच्छा समय प्राप्त हो तो कुछ शुभ कार्य प्रारम्भ करें, समय प्राप्त भी हो जाता है तो भी आप टालते रहते हैं और फिर 'अवकाश प्राप्त नहीं होता' का राग अलापने लगते हैं। इस रोगकी ओषधि आपके अतिरिक्त अन्य किसीके पास नहीं है।

वह कौन-सा कार्य है, जिसके निमित्त आपने संसारमें पदार्पण किया है? क्या आपने कभी इस तत्त्वपर भी चिन्तन किया है कि आपके जीवनका उद्देश्य क्या है? और जब परम पदार्थकी प्राप्तिके लक्ष्यको लेकर चले हैं, तब कितने समयमें वहाँतक पहुँच पायेंगे? जिस समयके लिये आप बाट देख रहे हैं, वह आ पहुँचा है। उठिये, सुनिये—

कहता हूँ, कहि जात हूँ, कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है तीन लोकका मोल॥

—कबीर

दिन-रातके चौबीस घंटेमें आप कितना समय आत्मचिन्तनमें व्यतीत करते हैं? कितना समय आपने ईश्वरचिन्तनके निमित्त पृथक् रख छोड़ा है? प्रात:कालसे सायंकालतक खाना-पीना, सोना, सम्मान-प्रतिष्ठाकी कार्यवाहियोंसे बचाकर कितना समय आपने परमार्थ-साधनके लिये रखा है?

दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये आप कितने साधन करते हैं। कैसी-कैसी तकलीफें उठाते हैं। धन-वैभव, विद्या-बुद्धि, तेज-प्रभाव, गुण-गौरव, यौवन-श्रीके प्रमादमें दूसरोंको कितना नगण्य मानते हैं, किंतु पानीके बुलबुलेके समान सारहीन जीवनकी स्थितिपर तनिक भी विचार नहीं करते। जहाँतक बुद्धि मोहसे आवृत है, वहाँतक आपकी निद्रा नहीं टूट सकती। इसीका निर्देश करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

मनकी मैल निकलनेपर वह पूर्ण विशुद्धरूपमें आ जाता है तथा प्रत्येक कार्य उत्तम रीतिसे सम्पन्न कर सकता है। पहला मानसिक दोष उसकी अत्यधिक चंचलता है। यों तो स्वभावतः मन चंचल है, किंतु उसे रंग-बिरंगी तितलीकी तरह एक पुष्पसे दूसरे पुष्पपर मँडराना नहीं चाहिये। कोई तत्त्व, कोई विशेष विचार या कोई भावना ले लीजिये। वह चाहे जैसा भी शुष्क क्यों न हो, उसपर मनकी समग्र वृत्तियोंको एकाग्र कर दीजिये। मन कुछ काल पश्चात् भागेगा, किंतु आप उसे जोरसे पकड़े रहिये, विचलित न होने दीजिये। इस क्रियाको विभिन्न वस्तुओं, विचारों और भावनाओंपर करनेसे मनमें दृढ़ता आती है।

मनन हमारे मनका सर्वश्रेष्ठ व्यायाम है। आप जिस बातको लें, उसीमें किंचित् कालके लिये गड़ जायँ, आप सारे दिन किस प्रकारके विचारोंका चिन्तन किया करते हैं, किन-किन वृत्तियों, किन-किन भावनाओंमें दिन व्यतीत किया करते हैं? मनके द्रष्टा बनकर पूर्ण परीक्षा कीजिये।

क्या आपके मनमें बीते हुए दुर्बल एवं हानिकारक विचार आते हैं? ऐसे विचारोंके लिये अन्तःकरण मूँद लीजिये। इन्हें साफ कर डालिये। ये मलिन द्रव्य आपके शुभ्र मानसिक संग्रहालयमें रहनेके लिये नहीं हैं। समस्त रोग, शोक, निराशाके विचार मानसिक संस्थानमें विषैले कीटाणु उत्पन्न करते हैं, अतः इनसे मुक्त रहिये।

किसीने सत्य कहा है कि जो मनुष्य अपने विषयमें तुच्छ विचार रखता है, वह एक भयंकर मानसिक रोगसे पीड़ित है। उसके अन्तःकरणमें जैसा गर्हित चित्र खिंच गया है, वैसी ही प्रतिक्रिया होती है। अतः मानसिक शुद्धिके लिये यह कायरता निकाल दीजिये। एक उच्च भावना मनमें लीजिये और उसमें निमग्न हो जाइये। उसीसे आत्माको स्नान कराते रहिये। शुभ विचारसे ईर्ष्या, द्वेष, घृणा इत्यादि मनोविकार नष्ट हो जायँगे।

ईश्वरका दिव्य विचार आपके सम्पूर्ण मलोंका विनाश कर सकेगा। नीरोग मन बनानेके लिये अपने ईश्वर-तत्त्वको प्रकाशित कीजिये। आप ईश्वर होकर जीवित रहिये। आपके मनका प्रत्येक अणु ईश्वर-तत्त्वसे ओत-प्रोत हो। उसमें

ईश्वरकी चमक हो। मनके इष्टदेवको शारीरिक क्रियाओंमें परिवर्तित कीजिये। ईश्वरको आप अपने अन्तःस्थलमें प्रक्षालन-कार्य करने दीजिये। ईश्वरको स्वयं प्रकाशमें आने दीजिये, उसके मार्गमें अवरोध न कीजिये, प्रत्युत ईश्वर बनकर विचार कीजिये। ईश्वर ही बनकर खान-पान कीजिये, साँस लीजिये और अपने ईश्वरत्वका प्रकाश दूरतक फैलाइये।

यदि स्वयंके विचारोंसे मनकी परिपुष्टि न होती हो तो अपनेसे अधिक जानकारके सामने अध्यात्मपर चर्चा चलाइये और उसके विचारोंके प्रकाशमें अपने मनोबलकी वृद्धि कीजिये। पुस्तकोंमें दृढ़तासे मन एकाग्र करनेसे मनकी ग्रहणशक्ति बढ़ती है। अपने विचारोंको लिखिये तथा उन्हें दूसरोंको दिखाइये।

मनको एकाग्र किये बिना किसी प्रकारका अभ्यास उत्तम रीतिसे सम्पन्न नहीं हो सकता। अध्ययनके, मननके या साधनाके समय यदि मनको दृढ़तासे एकाग्र न किया जाय तो उसका फल प्राप्त नहीं होता।

हमारा मन अनेक छोटे-छोटे कोषों (Cells)-का बना हुआ है। ये कोष जितने ही सूक्ष्म होंगे, उतने ही उत्तम समझे जायँगे। समर्थ विचारक और तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मस्तिष्कमें ये कोष बहुत संख्यामें होते हैं। रक्तकी गति मनके किसी भी भागमें बढ़ानेसे तथा शरीरके विद्युन्मय सामर्थ्यका उस प्रदेशमें संचार करनेसे उस भागके कोषोंकी वृद्धि एवं सुधार किया जा सकता है। मनको शरीरके किसी भागपर एकाग्रतापूर्वक लगानेसे उस भागमें रुधिरकी गति बढ़ जाती है और वह भाग पुष्ट हो जाता है। दृढ़तासे इस क्रियाका अभ्यास करेंगे तो अल्प समयमें ही अपनी वृत्तिको मनके विविध भागोंमें एकाग्र कर सकेंगे।

विचारोंको उत्पन्न करनेवाली कल्पनाशक्ति मनकी सर्जनशक्ति है। यदि हमें उच्च विचारोंका सर्जन करना है तो कल्पनाको निर्मल, हितकारक तथा निरामय बना लेना चाहिये। कल्पनाशक्तिको पूर्ण निरामय रखनेके लिये हमें क्रोध, भय, तिरस्कार, अधैर्य, निरुत्साह, दुर्बलता, शंका तथा इसी प्रकारकी और भी दुर्बल मनःस्थितियोंका परित्याग कर देना चाहिये।

उन्नतिके लिये आत्मपरीक्षा अनिवार्य है

प्रत्येक मनुष्य स्वनिर्मित मानसिक जगत्, वातावरण तथा स्थितिमें निवास करता है। हमारा मानसिक संस्थान, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, इच्छा तथा आकांक्षाएँ सभी अपने व्यक्तिगत स्वभावपर अवलम्बित हैं। मन स्वयं स्रष्टा है। यही स्वर्ग, नरक, न्यूनता, परिपुष्टि एवं समृद्धिका निर्माण किया करता है। मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तियोंका मध्यबिन्दु वास्तवमें मनःक्षेत्र ही है। विचार-शक्ति, कल्पना-शक्ति, वेदना-शक्ति, निश्चय-शक्ति, स्मरण-शक्ति आदि प्रायः सभी शक्तियाँ पृथक्-पृथक्रूपमें मस्तिष्कके पृथक्-पृथक् हिस्सोंमें विकास करती हैं।

प्रकृतिने एक बड़ा कठोर नियम बना रखा है। यह सिद्धान्त है कि या तो अपनी शक्तियोंका उपयोग करो, अन्यथा वे शक्तियाँ तुमसे छीन ली जायँगी। जिस शक्तिका उपयोग न होगा, उसीका अपहरण कर लिया जायगा। कितने ही व्यक्ति उत्कृष्ट शक्तियोंको पाकर कार्यशील न होनेके कारण उन्हें खो बैठते हैं। अतएव उन्हें अपनी अनुद्भूत (Latent) तथा कार्यशील (Active) शक्तियोंसे सदैव परिचित होना अनिवार्य है। हमारा प्राण-तत्त्व क्षीण तो नहीं हो रहा है? प्रफुल्लित स्वभाव नष्ट तो नहीं हो गया? आत्मनिर्भरता, मनःशान्ति, सामर्थ्य, मनोबल, इच्छाशक्ति, संकल्प आदि किस-किस परिमाणमें हमारे पास हैं। हम दूसरोंके आदेशपर तो नहीं नाचते हैं? मस्तिष्क दूसरोंके अधीन तो नहीं है? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर हमें अपनी प्रगति दिखाता रहेगा।

प्रतिमास अपनी परीक्षा (Self-test) करो। देखो, तुम अपनी विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्यमें कहाँतक बढ़े हो; कौन-कौन-सी निर्बलताओंने तुम्हें अस्त-व्यस्त किया है? कितना मार्ग तुम्हें और तय करना रह गया है? तुमने कहाँसे, किस उद्‌देश्यसे जीवन-यात्रा प्रारम्भ की थी? और उसमें कहाँतक तुम सफलता प्राप्त कर सके हो?

हम यहाँ आत्मपरीक्षाके निमित्त कुछ चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके अनुसार प्रत्येक मुमुक्षुको अपने विषयमें नम्बर देने चाहिये। प्रश्नावलीको एक

पृथक् नोटबुकमें नोट कर लेना चाहिये और प्रतिमास अत्यन्त सच्चाईसे अंक निश्चित करना चाहिये। वर्षके उपरान्त देखना चाहिये कि उन्नतिकी दौड़में मैं कितना आगे बढ़ गया हूँ।

आत्मपरीक्षाके प्रश्नसमूह

सर्वप्रथम हम स्वास्थ्यसे प्रारम्भ करेंगे, बिना उत्तम स्वास्थ्यके आत्मप्रगति दुर्लभ है। व्यक्तिगत स्वास्थ्यका दिनचर्यासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। नियमित दिनचर्यासे दूसरा श्रेयस्कर कार्य नहीं हो सकता।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रश्न

क्या मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ? क्या मुझे खूब भूख लगती है? क्या मुझे शौचकर्म ठीक-ठीक होता है? क्या मैं नियमितरूपसे ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या-त्याग करता हूँ? क्या मेरे शरीरमें स्फूर्ति रहती है? क्या मैं उषापान कर रहा हूँ? दिनभरमें मेरा कितना व्यायाम हो जाता है? मुझे अर्श, शोथ, संग्रहणी, ज्वर, उदररोग, कृमि, कुष्ठ, बहुमूत्र, रक्त-पित्त, कर्णोंके मलोद्भूत रोग, शिरःश्रोणि, शूल, नेत्ररोग, वात, पित्त, कफ तथा रक्तसे उत्पन्न होनेवाला कोई रोग तो नहीं है? क्या मैं साधारण कार्यसे थक जाता हूँ? क्या मुझे निद्रा ठीक रीतिसे गहरी आती है? क्या मुझे स्वप्नदोष होता है? क्या मैं नित्य दाँतुन करता हूँ? क्या मैं नित्य स्नान कर रहा हूँ? क्या मैं मादक पदार्थोंका उपयोग कर रहा हूँ? मेरा भोजन स्वास्थ्यप्रद है? उसमें विटामिनकी मात्रा कितनी रहती है? क्या मैं उचित विश्राम ग्रहण करता हूँ? क्या मैं शक्ति-संचयके पथपर हूँ?

बुद्धि-सम्बन्धी प्रश्न

क्या मैं अपने साथियोंकी दृष्टिमें बुद्धिमान् हूँ? क्या मेरे मनमें उच्च विचार आते हैं? क्या मैं भूत-भविष्य-वर्तमानकी ही बातें सोचा करता हूँ? क्या मैं बुरे विचारोंको रोकनेमें समर्थ हूँ? क्या मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ? क्या मैं अपने कर्तव्यके विपरीत कार्य करता हूँ? क्या मैं झूठ बोल देता हूँ? क्या मैं भय, चिन्ता या क्लेशसे विचलित हो उठता हूँ? क्या मैं अपनी उत्तम-उत्तम

प्रेरणाओंको जीवनमें प्रकट कर रहा हूँ? क्या मैं अपनी बुद्धिकी वृद्धि कर रहा हूँ? इस मासमें मैंने कितना ठोस साहित्य पढ़ डाला है? क्या मुझे अपने अध्ययनकी प्रगतिपर संतोष है?

आध्यात्मिक उन्नति-सम्बन्धी प्रश्न

क्या मुझे अपने आत्मा, ईश्वर तथा निज शक्तियोंके प्रति विश्वास है? क्या मैं अशान्त, विक्षुब्ध, चंचल रहता हूँ? क्या मैं अपना सारा समय श्रृंगार, प्रमोद, क्रीड़ामें ही बरबाद कर देता हूँ? क्या मैं इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार रखता हूँ? क्या मैं विषयोंकी ओरसे मुख मोड़कर ईश्वरके प्रति अभिमुख हो रहा हूँ? क्या मैं अनासक्त होकर संसारके समस्त कार्य करता हूँ? क्या मेरे अन्त:करणमें सद्बुद्धिका राज्य है? क्या मैं निज संकल्पोंद्वारा खराब-से-खराब अवस्थाको बदल सकता हूँ? क्या मैंने मनकी दुर्बलताको जीत लिया है? क्या मेरी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हैं? क्या मैंने मनको आत्मामें तल्लीन कर दिया है? मैं कितना चित्त-संयम कर लेता हूँ? मैंने अपने भीतरकी शक्तियोंको कितना जाग्रत् कर लिया है? अपनी आत्माकी अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, अनन्त सामर्थ्य, अखण्ड आनन्दको मैं कहाँतक प्राप्त कर सका हूँ? क्या मैं इन्द्रियदमन और मनको वश करनेका प्रयत्न करता हूँ? यदि हाँ, तो कितनी बार मैं सफल या असफल रहा हूँ? मैं आत्मामें कितनी देरतक लीन हो सकता हूँ?

समाज-सम्बन्धी प्रश्न

क्या मैं बिना हिचकिचाहटके समाजके सामने अपने भाव भाषणके रूपमें रख देता हूँ? क्या मेरे रहनेका ढंग, वस्त्र-भूषा, व्यवहार समाजमें आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं? क्या मैं लिखकर समाजपर अपने भाव प्रकट कर सकता हूँ? क्या मेरे न होनेसे समाजमें परिवर्तन होगा और क्या मेरी कमी समाजको खटकेगी? क्या मेरा विचार समाजकी कुरीतियों, रूढ़ियों, मिथ्यावादोंको दूर करनेका है? क्या मैं कोई रचनात्मक कार्य कर रहा हूँ? क्या मैं अपनी आवश्यकताओंकी वृद्धि कर रहा हूँ? मेरी आयमें मेरे कुटुम्बका गुजारा ठीक हो जाता है? लोग मेरा आदर करते हैं? या बात करनेको उत्सुक रहते हैं?

हीनत्वकी भावनाने तो मुझे ग्रसित नहीं कर रखा है? क्या मैं जब चाहूँ अपने सम्बन्धियोंको हँसा सकता हूँ? क्या मुझे अल्पमें संतोष है? क्या मैं दूसरोंकी प्रगतिमें दिलचस्पी ले रहा हूँ? मैं सत्संगमें रहता हूँ या कुसंगमें? मेरे मित्रोंके चरित्र कैसे हैं? उनमें कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं? मैं परदोषदर्शनमें तो निरत नहीं रहता हूँ? क्या मैं दूसरोंके दृष्टिकोणको ध्यानपूर्वक देखता हूँ? मैं कट्टरता, पक्षपात इत्यादिसे तो प्रभावित नहीं हूँ?

विविध विषयक प्रश्न

क्या मुझे ईश्वरमें अखण्ड विश्वास है? यदि है तो क्या मैं उनके भयसे अनुचित कार्य नहीं करता? क्या मैं जीवनकी सम्पूर्ण समस्याओंको हल कर रहा हूँ? मैं खरा हूँ या चापलूसी करता हूँ? क्या व्यभिचारकी ओर आकर्षित हूँ? अन्तःकरणको कुचल डालता हूँ? क्या मैंने लोभ-लालचवश आत्मोन्नतिको छोड़ दिया है? क्या मैं मृत्युसे बहुत भयभीत होता हूँ? अपने जीवनको निरर्थक अनुचित और अनुपयोगी कार्योंमें व्यय कर रहा हूँ? क्या मैं स्वभावतः शंका, आवेश, प्रलोभन आदिमें पड़ जाता हूँ? क्या मैं आनन्द-वृद्धि कर रहा हूँ? क्या मेरे मनमें ज्ञान और बुद्धिका पर्याप्त प्रकाश होने लगा है? क्या मैं सच्चे हृदयसे जीवनको महात्माओंके निर्दिष्ट मार्गपर लगाता हूँ? क्या मेरा जीवन प्रेमके सिद्धान्तपर अवलम्बित है? क्या मैं प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरत्वका दर्शन करता हूँ? क्या मैं ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन कर रहा हूँ? अपने विचारोंको क्रियात्मक (Practical) रूप प्रदान करता हूँ या केवल सोचता ही रहता हूँ?

बस, आजसे ही उक्त प्रश्नोंकी एक लतिका तैयार करो और शुद्ध भावनासे नंबर देना प्रारम्भ कर दो, फिर देखो तुम्हारी उन्नति किस द्रुत गतिसे होती है। प्रत्येक मासके अन्तमें इन सभी प्रश्नोंपर विचार करनेका अवसर तुम्हें प्राप्त होगा। तुम अपनी भावीके स्रष्टा हो। अपने जीवनको उन्नत और पूर्ण तुम्हीं बना सकते हो। दूसरेकी शक्ति तुमपर नहीं चल सकती। भाग्य तुम्हारे अधीन है और तुम अपनी उन्नति स्वयं ही कर सकते हो।

आत्मसुधारकी एक नवीन योजना

आत्मसुधार एवं मनुष्योंकी सफलताके आँकड़ोंकी परीक्षाके पश्चात् पाश्चात्य विचारकोंने यह निर्देश किया है कि सौमेंसे केवल तीन ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो व्यापारमें सफलता प्राप्त करते हैं। तैंतीसमेंसे एक व्यक्ति सबसे ऊँचा उठ पाता है। शेष साधारण ही रह जाते हैं। वे अपना जीविकोपार्जन तो करते हैं, किंतु बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी नहीं बन पाते। कुछ तो गरीबीकी पंक्तिमें ही रह जाते हैं।

बहुत कम लोग आगे चलकर ऊँचे उठते हैं। एक वर्ष वैसा ही होता है, जैसा दूसरा वर्ष, उसमें कुछ भी उन्नति नहीं हो पाती। ऐसा क्यों होता है?

मानव-जीवनकी सात भूमिकाएँ

साधारणतः मनुष्यके जीवनमें सात स्तर होते हैं। यदि सफल व्यक्ति सत्तर वर्ष जीवित रहा, तो उसका जीवन-क्रम कुछ इस प्रकार रहेगा—

१ से १० वर्षतक—खेल-कूद, बाल-चापल्य। १० से २० वर्षतक—शिक्षाप्राप्ति और पुस्तकावलोकन। २० से ३० वर्षतक—अपने व्यक्तित्वकी पहचान, नाना क्रियाएँ। ३० से ४० वर्षतक—सच्ची और ठोस उन्नति, संघर्ष। ४० से ५० वर्षतक—पूर्णता और सफलता। ५० से ६० वर्षतक—नाना प्रकारकी शक्तियोंकी प्राप्ति। ६० से ७० वर्षतक—प्रतिष्ठा और मन:शान्ति।

उपर्युक्त लतिकामें १० से ३० वर्षकी आयुको तैयारी या जीवन-संघर्षके लिये ज्ञानसंचयकी आयु माना जाता है। ३० वर्षसे ६० तकका जीवन नवीन और उत्पादक कार्यके लिये श्रेष्ठतम है। इन परिपक्व दिनोंमें मानवका ज्ञान और अनुभव संतुलित होता है, विवेकबुद्धि अपनी परिपक्वताको प्राप्त होती है और मनुष्यको अपनी स्थिति, शक्ति एवं गुप्त सम्पदाओंका ज्ञान प्राप्त होता है। ६०से ७० वर्षकी आयु पिछले ६० वर्षोंके ज्ञान, बुद्धि, अनुभव, विवेकका पुरस्कार है। उसमें मनुष्य मन:शान्ति और अमरत्वपदकी प्राप्तिके लिये साधनामें प्रवृत्त होता है। यही वह परिपुष्ट एवं सबसे अधिक प्रसन्नताका काल

है, जिसके लिये मनुष्यका प्रारम्भिक संघर्ष चल रहा था। इसीमें जीवनका सर्वोच्च ज्ञान मिलता है।

हमारी त्रुटि कहाँ है?

वर्तमान असफल व्यक्तियोंकी प्रधान त्रुटि प्रारम्भिक तैयारी और आत्माकी अनन्त शक्तियोंकी वैज्ञानिक जानकारीका अभाव है। मनुष्य जीवनकी तैयारीके विषयमें जागरूक नहीं रहते। उनमें उद्देश्यहीनता होती है। बाह्य जीवनके नाना प्रलोभनोंसे ग्रसित मानव अपनी शक्तियोंको उद्देश्यहीन कार्योंमें नष्ट करते हैं। विवेकहीन मानव स्वयं ही अपना विनाश करता है। शक्तिका मार्ग जब अनुचित मार्गोंमें खुल जाता है, तब मनुष्य एक ऐसे अन्धकारमें जा पड़ता है कि जहाँसे उसे यथार्थ आत्म-ज्ञान नहीं होता।

नब्बे प्रतिशत व्यक्ति अपने विषयमें गम्भीरतासे विचार नहीं करते, वे अपनी मुख्य शक्तियाँ, विशेषताएँ और प्रकृतिकी रुझानको मालूम करनेकी चेष्टा नहीं करते। हम अपना शक्तिशाली गुण कैसे मालूम कर सकते हैं? यह देखिये कि आपको किस कार्यके करनेमें सर्वाधिक शान्ति, संतोष और आनन्द प्राप्त होता है। जिस कार्यमें आपकी शक्तियाँ अनायास ही प्राकृतिक रूपमें एकाग्र हो जाती हैं, वही आपका मुख्य गुण है। उसी दिशामें आपको विकास करना है, आगे उठकर सफलता लाभ करना है। शक्तिका सदुपयोग यदि इसी विशिष्ट गुणके विकासके हेतु चलता रहे, तो मनुष्य अपने मूल रूपको जाग्रत् कर सकता है।

अपने व्यक्तित्वकी गुत्थी सुलझाइये। अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कीजिये। आप बाजारसे कोई मशीन खरीदते हैं, तो उसकी विशेषताएँ दूकानदारसे मालूम करते हैं। खेद है कि मनुष्यरूपी इस महाप्रतापी अटूट शक्तिपुंज शरीरकी विशेषताएँ हमें ज्ञात नहीं? शरीरमें जो मस्तिष्क है और मस्तिष्कके अणु-अणुमें जो नाना प्रकारकी शक्तियोंका खजाना भरा पड़ा है, हमारे गुप्त मनमें जो नाना व्यापार होते हैं, उनका हमें ज्ञान नहीं है। मनुष्यकी शक्ति अनन्त है। वह भौतिकताकी सीमाको चीरकर आध्यात्मिकताकी ऊँचाईमें उठती है। हम वास्तवमें अपना विकास अवरुद्ध कर देते हैं, बढ़ना और

विकसित होना समाप्त कर देते हैं, नवीन ज्ञान और पराशक्तिके प्रकाशकी ओरसे नेत्र मूँद लेते हैं।

किसानकी उपज भूमिकी जुताई, तैयारी, खाद, जल तथा प्रकृतिकी कृपापर है। यदि उसने अच्छी तरह जुताई और तैयारी करनेमें कसर नहीं रखी है, तो निश्चय ही उसे अच्छी फसल मिलेगी। यही तथ्य जीवनकी तैयारीका भी है। अधिकांश व्यक्ति किसी भी कार्यके लिये तैयारी नहीं करते। वे कुछ बनना ही नहीं चाहते। यह एक कटु सत्य है। जो व्यक्ति कुछ भी नहीं जानता, किसी धंधेमें कुशल नहीं है, वह किस प्रकार सफल हो सकता है?

यदि आप अपनी आय, प्रतिष्ठा और सामाजिक जीवनकी निष्ठासे असंतुष्ट हैं, तो सर्वप्रथम आत्म-निरीक्षण कीजिये। क्या आप जो रुपया पाते हैं, उससे ऊँची योग्यता या कुशलता रखते हैं? क्या आपकी शिक्षा और अनुभव ऊँचे हैं? आपको क्या-क्या आता है? किस-किस दिशामें आप दूसरोंकी अपेक्षा अधिक विकसित हैं? आपको क्यों अमुक पद दिया जाय? अपनी योग्यता, बुद्धि, अनुभव, स्वास्थ्य, चरित्रकी दृढ़तामें आप कितने व्यक्तियोंको हरा सकते हैं?

पहले अपनी शक्तियों, योग्यताओं और विशेषताओंको देखिये, तत्पश्चात् संसारसे अपने लिये ऊँची तनख्वाह, प्रतिष्ठा, मान इत्यादि पानेकी आशा कीजिये। अधिक योग्यता—अधिक मान, प्रतिष्ठा और रुपया। निम्न योग्यता—अपमान, दारिद्र्य और बेकदरी—इसे साधारण न समझिये। योग्यताओंका ही संसार आदर करता है। योग्यताके आगे ही लक्ष्मी नतमस्तक होती है। आजकलके नवयुवक योग्यता तो बढ़ाते नहीं, यों ही कहते फिरते हैं कि हमें कोई पूछता नहीं! हमें पैसा नहीं मिलता!

हमारी योग्यता कैसे बढ़े?

योग्यता-वृद्धिके लिये प्रथम तत्त्व अध्ययन और परिश्रम है। यदि मनुष्य परिश्रम करनेके लिये प्रस्तुत है, सब कुछ भूलकर एक मार्गमें अपनी शक्तियोंको लगा सकता है तो वह अवश्य योग्यता बढ़ा सकेगा। आलस्य मनुष्यका सबसे

बड़ा शत्रु है और परिश्रम सबसे बड़ा मित्र। यदि आप परिश्रम करनेको प्रस्तुत हैं, तो संसारकी योग्यता आपकी होकर रहेगी।

योग्यता बढ़ानेके लिये जब आप अग्रसर हों, तब दो शत्रुओंसे सावधान रहें—(१) निराशाका त्याग करें, (२) असफलतासे हतोत्साहित न हों। इनसे उन्नतिका मार्ग कण्टकाकीर्ण होता है। पग-पगपर कठिनाइयाँ और अड़चनें आती हैं, लोग कटु आलोचनाएँ करते हैं, छिद्रान्वेषण होता है, किन्तु सावधान! निराश न हों। आत्मप्रेरणासे कठिनाइयोंको चीरते हुए निरन्तर अग्रसर हों। यदि एक-दो बार असफल हो जायँ, तो मार्ग न त्यागें। डटे रहें। अनेक व्यक्ति आलसी तो नहीं होते, किंतु असफलताके एक साधारणसे झटकेसे हतोत्साहित होकर बैठ जाते हैं।

आप ऐसे निराश डाँवाँडोल व्यक्तियोंमें कदापि नहीं हैं। आप अपनेमें उच्चतम शक्तियोंकी उपस्थितिमें विश्वास रखते हैं। आपकी मानसिक और बौद्धिक सम्पदाएँ संसारको चमत्कृत करनेवाली हैं। आगे, निरन्तर आगे बढ़नेके लिये बने हैं। अपने विषयमें यह मनोवैज्ञानिक धारा सही मार्ग है।

आप उस मुक्केबाजके विषयमें क्या कहेंगे, जो एक मुक्का लगनेसे पस्त-हिम्मत होकर बैठ गया? यदि यही मुक्केबाज पुनः प्रयत्नशील है, तो कल वह अपने प्रतिद्वन्द्वीको अवश्य पराजित करेगा। यदि आप अपनी योग्यताएँ बढ़ानेमें सतत उद्योगशील हैं, तो आज नहीं, कल आप अवश्य ही योग्यतम व्यक्तियोंमें होंगे।

योग्यता-वृद्धिके उपकरण

योग्यता बढ़ानेके लिये कुछ मार्ग इस प्रकार हैं—(१) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, परीक्षाएँ तथा स्वतन्त्र स्वाध्याय। जितनी पुस्तकें आज सस्ती हैं, वैसी कभी नहीं रहीं। इतनी सुविधाएँ मनुष्यको कभी प्राप्त नहीं हुई हैं। शिक्षाके अनेक कोर्स पृथक् भी बिकते हैं, जिन्हें खरीदकर आप अपनी योग्यता बढ़ा सकते हैं। यह मत समझिये कि आपको कोई आकर्षक-सी डिग्री प्राप्त नहीं। ग्रन्थोंका अध्ययन इस गम्भीरता, शुद्धता, पूर्णता और सँभालकर होना चाहिये कि मूलतत्त्व स्मृतिपर सदाके निमित्त अंकित हो जायँ।

(२) दूसरा मार्ग बड़े विद्वानोंका सम्पर्क है। उनके भाषण तथा प्रवचन श्रवण करनेसे मानव उत्तरोत्तर सद्ज्ञान संचय करता है और द्विगुणित वेगसे उच्चता और पवित्रताकी ओर उठता है। सत्संगके समान योग्यता-वृद्धिका दूसरा सहज साधन नहीं है।

(३) तृतीय मार्ग संसारका भ्रमण और क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करना है। मनुष्यको अधिक-से-अधिक व्यक्तियों, शहरों और समाजके कार्योंके सम्पर्कमें आना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति अनुभवोंका एक संसार लिये फिरता है। उसके अनुभवको आप मस्तिष्कमें रखनेके लिये प्रस्तुत रहिये।

(४) मनुष्यका सामाजिक जीवन सबसे बड़ा शिक्षक है। समाजमें अधिक-से-अधिक कार्य करनेसे मनुष्य नाना प्रकारके ज्ञानसे पूर्ण होता है। ज्ञानका भण्डार तो आपके इर्द-गिर्द फैला पड़ा है, उसे बटोरनेभरकी आवश्यकता है।

(५) योग्यता-प्रदर्शनके निमित्त इन कलाओंको सीखिये—(१) भाषण देनेकी कला, (२) लेखनद्वारा विचार-प्रतिपादन, (३) बातचीत करनेकी सम्भाषण-कला, (४) इन्टरव्यू, (५) रेडियोके उत्तम भाषण सुनना, अच्छे समाचारपत्र पढ़ना तथा उनमें लेख, कहानी, आवश्यक सामयिक ज्ञान संचय करना। इन्हींके सहारे लेख लिखा जाता है। अपने विचारोंको लिपिबद्ध करना आत्म-प्रकटीकरणका सर्वोत्तम उपाय है। साहित्यक्षेत्रमें प्रवेश करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम किसी खास विषयका विशेष अध्ययन करें। कौन विषय हमारे युग-धर्मके अनुकूल है? इसका निर्णय स्वयं अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये।

सम्पादकाचार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने ठीक ही लिखा है—'नवयुवक लेखकके लिये किसी विषयका विशेष अध्ययन कर लेना ही साहित्य-क्षेत्रमें प्रवेश करनेका सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। आजका युग विशेषज्ञताका है।'

किसी अच्छे पुस्तकालयके सदस्य बन जाइये। अनेक व्यक्तियोंको यह पता नहीं कि कलकत्तेकी इम्पीरियल लाइब्रेरी पुस्तकोंके मूल्यके रूपमें पंद्रह-बीस रुपये जमानतके तौरपर जमा करके और दुतर्फा डाक एवं रजिस्ट्रीका खर्च लेकर पुस्तकें उधार दिया करती है। उसीसे लाभ उठाइये। छोटे-छोटे निजी

पुस्तकालयोंके निर्माणकी भी बड़ी आवश्यकता है। मासमें कुछ रुपया उत्तम पुस्तकोंके लिये रखिये। लेख लिखना बहुत कुछ अभ्यास और परिश्रमपर निर्भर है। प्रारम्भमें किसी मार्ग-दर्शकके मिल जानेसे कोई भी शिक्षित व्यक्ति अपनी भाषामें अपने भाव साधारणतया प्रकट कर सकता है। शिष्यत्वकी भावना विकसित कीजिये और योग्य विद्वानोंकी संगतिमें रहिये।

हमारा जीवन साहित्यमें प्रतिबिम्बित होता है। यदि हमारा जीवन उच्चकोटिका, ऊँचे आदर्श, संयम और लोकोपकारपर निर्भर नहीं है, तो उसका कुप्रभाव हमारी कृतियोंपर अवश्य पड़ेगा। अतः जीवनको ऊँचा उठाइये और फिर अपने अनुभव भाषामें प्रकट कीजिये। अत्याचारके विरुद्ध आपकी लेखनी तीव्र होनी चाहिये। एक रूसी लेखकने लिखा है—

'क्या तुम लेखक बनना चाहते हो? यदि हाँ, तो मनुष्य-जातिके पुराने जमानेके संचित दुःखसमूहका इतिहास पढ़ो। अगर उसे पढ़ते हुए तुम्हारा हृदय विदीर्ण न हो तो अपनी लेखनी छोड़ दो, तब सब कोई तुम्हारे पाषाण-हृदयकी खेदजनक शुष्कताको पहचान लेंगे।'

अन्याय और अत्याचारके प्रति लिखनेसे आपकी वाणीमें ओज आयेगा।

आजके मानवकी सबसे बड़ी आवश्यकता

यदि आजके सभ्य मानवका अन्तःकरण चीरकर उसके अन्तःप्रदेशका विश्लेषण किया जाय तो हमें उसकी विक्षुब्धता, अन्तर्द्वन्द्व, मनोवेगोंका संघर्ष एवं इच्छाओंका नर्तन देखकर आश्चर्यमें डूब जाना पड़ेगा। ऊपरसे सभ्यताका आवरण पहनकर अपनी सम्पूर्ण शिक्षा-संस्कृतिके मदमें चूर वह अनेकों दुरभिसन्धि, प्रताड़ना, अवसाद, व्यतिक्रम, प्रवंचना, दुर्वाद, परच्छिद्रान्वेषण, स्वार्थ-सिद्धिसे भरा हुआ है। एक ओर वह वासना-पूर्तिकी मरीचिकामें लिप्त है, तो दूसरी ओर आर्थिक चिन्ताओंकी मृगतृष्णासे आच्छन्न है। वह छल, ठगी, धूर्ततासे स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। दूसरोंको नीचे छोड़ उनकी सुख-

सुविधाका विचार न कर वह आनन्दकी ओर दौड़ता है। उसके पूरे जीवनका पर्यवसान अतृप्ति तथा अशान्तिमें होता है।

वासनामूलक अशान्ति

अशान्तिका प्रारम्भ वासनाकी प्रदीप्तिसे होता है। जिस अवस्थामें वासनाका ताण्डव नहीं है, वही शान्ति और प्रसन्नताकी अवस्था है। वहाँ इच्छाओंका आवेग धीमा रहता है। बच्चेमें साधारण वस्तुओंके प्रति क्षणिक आकर्षण होता है; किन्तु बच्चेको हठकी वस्तु प्राप्त होते ही थोड़ी देरके लिये परितुष्टिका अनुभव होता है। बच्चा सहृदय, शान्त, प्रसन्नचित्त, सुखी जीवन व्यतीत करता है। उसका आन्तरिक जगत् जटिल मानसिक यन्त्रणाओंसे मुक्त है। वह न किसीसे प्रतिशोध लेना चाहता है, न वैर रखता है। उसे आर्थिक-सामाजिक वासनाजन्य चिन्ताएँ नहीं होतीं।

यौवनके प्रारम्भके साथ वासनाकी उद्दीप्ति होती है। वासना भड़क उठती है। दूसरे लिंगके व्यक्तिके प्रति आकर्षण होने लगता है। पुरुष स्त्रीके प्रति तथा स्त्री पुरुषके प्रति आकर्षित होती है। यह आकर्षण मनकी शान्तिको भंग करनेका प्रथम केन्द्र है। जब वासनाका लगाव या सम्बन्ध प्रारम्भ होता है, तब अशान्ति, अतृप्ति, मायाजाल और सैकड़ों बन्धनोंका भी प्रारम्भ हो जाता है। वासना मनुष्यको संसारके मायाजालसे जकड़नेवाली जंजीर है। यह एक ऐसा पत्थर है, जिसे गलेमें बाँधे मनुष्य इधर-से-उधर भाराक्रान्त हुआ मारा फिरता है। वासना वह नशा है, जो हमें पागल कर देता है और मनकी शान्तिको भंग करता है।

वासना अपने पूरे जोरपर यौवनकालमें रहती है। युवक वासनाकी उत्तेजनासे अशान्त रहते हैं। जहाँ उन्हें सुन्दरता दीखती है, वहीं रुककर वे उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। स्त्रीको पुरुषोंका, पुरुषको स्त्रियोंका आकर्षण तथा तत्सम्बन्धी उत्तेजक वासनामूलक स्मृतियाँ अनन्त मधुर वेदनाओंसे भर देती हैं। हृदयमें असंख्य हिलोरें उठा करती हैं। वासनाकी प्रवंचना मन-समुद्रमें नयी-नयी तरंगें उत्पन्न करके उसे निरन्तर क्षुब्ध रखती है।

संसारमें अतृप्त कौन है? अशान्ति किसे सबसे अधिक है? इसका एकमात्र उत्तर है—वासनाके चंगुलमें फँसे हुए युवक-युवती। ये दोनों वासनाकी उत्तेजनासे जीवन-संघर्षमें फँसते हैं। विवाह एक सामाजिक बन्धनके रूपसे उनके ऊपर असंख्य उत्तरदायित्व लाता है। विवाहका तात्पर्य है संतानोत्पत्ति। संतान दुःखका साधन है। संतानका उत्तरदायित्व, भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, विवाह इत्यादिकी नाना चिन्ताएँ मनुष्यकी संतानके साथ संयुक्त हैं। जो व्यक्ति जितना विलासी है, भोगमें जितना अधिक लिप्त रहता है, उसे ईश्वरीय दण्डके रूपमें उतने ही बच्चोंके भरण-पोषण तथा समाजमें स्थापनका भार प्राप्त होता है। वासनासे संतान और संतानसे असंख्य चिन्ताएँ, चिन्ताओंसे मनःशक्तिका भंग होना—ये सब घटनाएँ परस्पर एक-दूसरेसे संयुक्त हैं। मृगजल-सी ये छाया—इच्छाएँ मानस-सरितामें लहराती हैं।

वासनाका प्रक्षालन ही इन तमाम उत्पातोंसे बचनेका उपाय हो सकता है। जो व्यक्ति समझते हैं कि विवाह कर लेनेसे वे वासनासे मुक्त हो सकेंगे, वासना शान्त हो जायगी, वे भूल करते हैं। वासना विषभरी बेल है। एक बार जड़ पकड़ने या ढील देनेसे यह बुरी तरह फैलती है। 'आज आनन्द कर लें, कलसे इन्द्रियनिग्रह करेंगे' ऐसा सोचनेवाले अपने निश्चयको ढीला कर देते हैं और आजन्म इन्द्रियलोलुपताके कुचक्रमें फँसकर मनकी शान्तिको खो बैठते हैं!

कितने परितापका विषय है कि इन्द्रियलोलुपता, भोगविलास, अश्लीलताको प्रोत्साहन देनेवाले साधन आजकल बहुत बढ़ गये हैं। समस्त उत्पातोंकी जड़ सिनेमा है। सिनेमाकी अर्द्धनग्न तसवीरें, विषय-प्रेमसम्बन्धी गंदी कहानियाँ, गंदे गाने तथा कुसंगका प्रलोभन आज जितना है, उतना कभी नहीं रहा है। विकारोंकी उत्तेजना पैदा करनेवाला सिनेमा है। यह मोहक स्वप्नोंका एक ऐसा संसार बनाता है, जो अमिट लालसा-तृष्णाओंकी सृष्टि करता है, मन नाना इन्द्रजाल बुनता है, जिसमें उद्दाम वासना शत-शत फण फैलाये मनुष्यकी बुद्धिको निगलनेके लिये तैयार रहती है। इसी माया-जालके चक्रमें सौरभ-मृग-सा अंधा होकर युवक इन्द्रियसुखके पीछे दौड़ा-दौड़ा फिरता है।

यश, धन तथा मदद्वारा अशान्ति

इसी आयुमें मानस-शान्तिको नष्ट करनेवाले और कई प्रलोभन मनमें प्रविष्ट होते हैं। प्रथम मद है—आर्थिक शक्तिकी उपासना। 'मैं समाजमें बड़ा कहलाऊँ, लोग मेरा आदर करें। रुपया होनेसे मैं आदरका पात्र बन सकूँगा।' ऐसे अनेक विचार मानस-शान्तिको भंग करते हैं। यश, लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठाकी अनेक योजनाएँ मनुष्य बनाया करता है, जिनमें कुछ पूर्ण तथा कुछ कभी पूर्ण न होनेवाली होती हैं। लाभके लिये वह ऐसे अनेक व्यापारोंमें संलग्न होता है, जहाँसे लाभ उठानेके लिये उसे प्राणपणसे अपनी समस्त शक्तियाँ उसमें केन्द्रित करनी पड़ती हैं।

व्यापारीकी मानस-शान्ति सदा भंग रहती है। वह सोकर, जागकर, बैठकर और सदा-सर्वदा अपने हानि-लाभके हवाई-महल बनाया करता है। 'अमुक प्रकार लाभ कर लूँ, अमुकसे अधिक झपट लूँ, इस वस्तुको ऐसे बेचूँ, इस प्रकार काला बाजार करूँ।' ऐसी अनेक धूमिल योजनाएँ उसके मनःक्षेत्रमें टकराया करती हैं। उसके प्राण उस पूँजीमें लगे रहते हैं, जिसे उसने व्यापारमें लगाया है तथा जिसका बढ़ना-घटना उसके जीवन-मरणका प्रश्न है। यदि उसे व्यापारमें लाभ भी हो रहा है, तो वह और लाभके लोभमें लगा है, यदि हानि है तो बाजारमें अपनी साख स्थिर रखनेकी फिक्रमें है। व्यापार एक ऐसा सरदर्द है, जो सदैव आन्तरिक शान्तिको भंग किये रखता है।

व्यापारीकी लोभवृत्ति आन्तरिक शान्तिको भंग करनेका कारण है, तो उच्च पदाधिकारियों, अफसर, वकील, प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर इत्यादि अधिक वेतन प्राप्त करनेवालोंका दम्भ और मद उनकी चिन्ताका विषय है। वे समाजके सम्मुख अपना झूठा, अतिरंजित, आकर्षक रूप प्रस्तुत करना चाहते हैं जब कि वस्तुतः अंदरसे वे खोखले, आर्थिक चिन्ताओंसे आक्रान्त, फैशनके बाह्य चटकीलेपनमें ग्रस्त हैं। उनकी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ी हुई हैं कि जिनकी पूर्तिके लिये उसी अनुपातमें वे धन कमा नहीं पाते। उनकी विलासिता ही उनकी मनःशान्तिको भंग करनेवाली राक्षसी है। उन्हें अच्छे वस्त्र चाहिये, आलीशान मकान चाहिये। दूसरोंके सामने शान-शौकत प्रदर्शित करनेवाले नाना

उपकरण चाहिये। उनकी धर्मपत्नियोंको आधुनिक फैशनके असंख्य प्रसाधन चाहिये। यह वर्ग थोथी शान, मिथ्या आवश्यकताओं, बाह्याडम्बर, मनोरंजन, आर्थिक चिन्ताओं और व्यसनोंके कारण सदा अशान्त रहता है।

यदि कोई वर्ग शान्त, संतोषी और निर्भय हो सकता है तो वह श्रमिक वर्ग है। उसकी थोड़ी-सी आवश्यकता है, सरल आडम्बरविहीन जीवन है, व्यर्थकी शान-शौकत, दिखावेसे वह दूर रह सकता है। यदि व्यसनों तथा वासनालोलुपतासे अपनी रक्षा कर सकें तो श्रमिक वर्गका जीवन शान्तिपूर्ण हो सकता है। लेकिन हम देखते हैं कि उनमें अशिक्षा है। वे अंधविश्वासी, व्यसनी, उजड्डु, अल्पज्ञ, मूर्ख हैं। उन्हें आसानीसे मूर्ख बनाकर उनका सर्वस्व अपहरण किया जा सकता है। उनमें प्रमादपूर्ण व्यसन भी आ गये हैं। उनका अज्ञान इतना घना है कि वह उन्हें यह प्रतीत नहीं होने देता कि वे ही सरल, व्यसनरहित, संतुष्ट, शान्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं!

शान्ति प्राप्त करनेके नियम

ईश्वरीय सृष्टिका कुछ ऐसा नियम है कि जितनी सांसारिकता बढ़ती है, उतनी ही मनकी शान्ति नष्ट होती है। मनुष्य जितना दुनियाकी भाग-दौड़, संघर्ष, रुपयेके लोभ, लालच, वासना, झूठी शान, मिथ्या आडम्बर, विलासिता और व्यसनमें फँसता है, उसी अनुपातमें वह अशान्त रहता है।

जगत्में सर्वत्र महँगाई-महँगाईकी पुकार है। वास्तवमें महँगाई विलासिताके कारण है। जिन्हें कृत्रिम आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारकी सामग्रियाँ चाहिये, वे ही दु:खी और अशान्त हैं। यदि व्यर्थकी चीजोंका परित्याग कर हम आत्मनियन्त्रण कर अपनी शौकीनीको वशमें रखें और सांसारिकता छोड़ दें तो मानस-शान्ति प्राप्त हो सकती है।

जीवन्मुक्त वह पुरुष है, जिसमें साधारण मनोविकारोंसे उत्पन्न उत्तेजना नहीं है। उत्तेजक स्वभाव सबको शत्रुरूपमें देखता है और प्रतिशोध, ईर्ष्या आदिमें उद्विग्न रहता है।

सांसारिकता (अर्थात् अविद्या)-को छोड़कर ज्यों-ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक

जीवनके समीप आता है, उसे जगत्के मिथ्या तत्त्वका भान होता है। कंचन, कामिनी तथा अन्य वस्तुओंका क्षणिक आनन्द दूर होकर वह ब्रह्मानन्दको ही अपने सुखका केन्द्र मानता है।

ज्यों-ज्यों मनुष्य बाहर जगत्में फैली हुई वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करता है, उसे संसारकी तुच्छताका ज्ञान होता है। धीरे-धीरे उसे दैवी विचार तथा ब्रह्मचिन्तनमें रस प्राप्त होने लगता है। उसके हृदयमें दैवी-विचारोंका राज्य हो जाता है। 'सब देवोंका देव मेरे हृदयमें विराजमान है' यह भाव जमते ही वह जगत्की तुच्छताको समझ जाता है।

निराशाका अन्त

जब मनुष्यका मन किसी प्रकारकी चिन्तासे एक बार आक्रान्त हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे अपनी मानसिक स्थिरता, संतुलन और दृढ़ता खो देता है। बुलबुलेके समान प्रतिकूलता, दुःख और उद्वेग उसे पर्वतसदृश दीख पड़ते हैं। प्रतिकूल विचारोंके चिन्तनसे मन अव्यवस्थित हो जाता है, मनके दुर्बल बननेसे शरीर दुर्बल बन जाता है। यह चिन्ता ही अनेक प्रकारके छोटे-मोटे शारीरिक रोगोंके रूपमें प्रकट होती है। नैराश्यके अधिक दिनोंतक रहनेसे शरीरका बल, प्रतिभा, बुद्धिका विकास, आन्तरिक आह्लाद और आध्यात्मिक सामर्थ्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

चिन्ताका एक स्थायी कारण होता है, कुछ सामयिक कारण उस प्रधान कारणसे मिल जाते हैं और मूल कारणको बढ़ाते रहते हैं। यह स्थायी कारण मनुष्यके गुप्त मनके किसी स्तरमें छिपा रहता है। चतुर मानस-चिकित्सक इसे विश्लेषणद्वारा चेतनाके समक्ष लाते हैं। यह मूल कारण मानसिक अन्तर्द्वन्द्वका मुख्य कारण बन जाता है। सामयिक कारण कोई भी हो सकता है।

जब नैराश्य एक भावना-ग्रन्थिके रूपमें परिणत होकर गुप्त मनमें निवास करने लगता है, तब मनुष्यका मन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वके कारण निर्बल पड़ जाता

है। फिर तो साधारण-सी घटना भी मनमें पुरानी दुःखद स्मृतियाँ जाग्रत् कर देती हैं। मान लीजिये एक स्त्रीके कई बच्चे साधारण बीमारीमें ही मर चुके हैं, कोई बचता नहीं। यदि उसका कोई पुत्र जीवित रहे और वह जरा भी जुकाम, खाँसीसे ग्रस्त हो तो उसके मनमें बेचैनी हो जाती है। इस बेचैनीसे उसके शरीरमें थकावट उत्पन्न होती है। स्थायी चिन्ता किसी भी सामयिक कारणसे उत्तेजित होकर चेतनापर अधिकार कर लेती है। यहाँ चिन्ताका कारण भय और मानसिक निर्बलता है। कमजोर मनपर अभद्र कल्पनाएँ और कुत्सित निर्देश शीघ्र ही अपना प्रभाव डालते हैं। यह भय भी एक भावनाग्रन्थि बन जाता है।

नैराश्यसे क्लान्त रोगीका मन भाग्यवादी होता है, कर्तव्यवादी नहीं। 'जो नसीबमें है वही होगा। हम तो अदृष्टके हाथोंमें खिलौनामात्र हैं, भाग्य हमें जिधर ले जायगा, उधर ही चले जायँगे।' ऐसी दुर्बल विचारधारा रखनेवाला व्यक्ति अभागा होता है। वह ज्यौतिषी, फकीर, झाड़-फूँक करनेवालोंके पास जाता है और भाग्यफल पूछता है। जैसा उसे ज्यौतिषी बता देता है, वैसे ही वह करने लगता है। स्वयं अपने भाग्यका फैसला करना नहीं जानता। उसका निर्बल मन तुरंत ज्यौतिषीके बुरे संकेत ग्रहण कर लेता है। ज्यों-ज्यों वह इन अकल्याणकारी भावोंको दबानेकी चेष्टा करता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्बल मनपर इनका अधिकाधिक प्रभाव गहरा पड़ता जाता है। यह आन्तरिक दुर्बलता शारीरिक रोगके रूपमें प्रकट हो जाती है। हमें अपने निजी अनुभवसे ज्ञात हुआ है कि अनेक शारीरिक रोग भी मानसिक निर्बलता—संदेह, शंका, चिन्ता, भय, ग्लानि तथा मानसिक विकारोंसे उत्पन्न हुए और हमने उनको मानसिक चिकित्साद्वारा ही अच्छा भी किया। पहले रोगीको नैराश्यकी मानसिक ग्रन्थिसे मुक्त करना पड़ा। तत्पश्चात् उसका शरीर-रोग ठीक हुआ। जैसे-जैसे रोगीने मानसिक सबलता धारण की, आत्मश्रद्धा तथा आन्तरिक विश्वासकी वृद्धि की, वैसे-वैसे ही उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् होता गया। यदि आन्तरिक जगत्में पूर्ण समस्वरता, शान्ति, सरलता रहे, तो कोई भी मानसिक या शारीरिक विकार सम्भव नहीं है।

नैराश्य रोगसे मुक्त होनेका उपाय उस विकारको दमन कर देना नहीं है। अनेक व्यक्ति निराश व्यक्तिको अच्छे-अच्छे दृश्य दिखाकर उसकी पुरानी

दुःखद स्मृतियोंको भुलाने या दबानेकी चेष्टा करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उस मानसिक विकारकी मानसिक ग्रन्थिको सुलझाना ही सुखी होनेका एकमात्र उपाय है। किसी भी विकारको दबा देनेभरसे काम न चलेगा, दमनकी प्रतिक्रियास्वरूप तो भावना-ग्रन्थि और भी जटिल बनती जायगी। दमनसे कुछ दिनोंके लिये यह सम्भव हो सकता है कि रोग न बढ़े, किंतु जरा-सा संघर्ष या दुःखद अवसर आते ही वह पुनः आन्तरिक जगत्से उभड़ पड़ेगा। कोई भी रोग दमनसे विनष्ट नहीं होता। अल्पकालके लिये अदृश्य हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक नियम नैराश्य तथा चिन्ताके विषयमें भी सच है।

नैराश्यसे मुक्तिके लिये उसका कारण सुलझाकर खोज निकालिये। यदि स्वयं समझमें न आवे, तो किसी योग्य मनोवैज्ञानिकके पास जाकर समझिये। अपनी मानसिक गुत्थियोंको सुलझाना इस विकारसे बचनेका सर्वोत्तम उपाय है। जब इस ग्रन्थिका कारण चेतनाके समक्ष आयेगा, तब वह स्वयमेव अच्छा हो जायगा। मनोविश्लेषणद्वारा जब विगत कटु अनुभूतियाँ रोगीकी चेतनाकी सतहपर लायी जाती हैं और जब रोगी आत्मस्वीकृत कर लेता है अर्थात् संदेह, भय, ग्लानि, चिन्ताकी व्यर्थता मान लेता है, तब वह ग्रन्थि सुलझ जाती है और मानसिक विकार नष्ट हो जाता है।

नैराश्यको दूर करनेके दो मुख्य उपाय हैं—

(१) मनको निर्बल न होने देना।

(२) चिन्तासे न घबराना और नित्य प्रसन्न रहना।

मनको सबल बनाना

मनको ऐसे विचारोंसे भरे रखिये जो हितकर, शान्तिकर, पुष्टिकर हों अर्थात् जिनसे आपको वास्तविक शक्ति और आत्मविश्वास मिले, आत्मश्रद्धामें वृद्धि हो। आत्मश्रद्धायुक्त अवस्थामें हम इस बातको जानते हैं कि परमात्मा हमारे अभीष्टके लिये हमारे अन्तर्जगत्में है। अपनी शक्तियोंमें अखण्ड विश्वास नितान्त आवश्यक तत्त्व है। हम सबल हैं, प्रत्येक ओरसे सतर्क और पुष्ट हैं—ऐसी विचारधारासे मन पुष्ट होता है।

मनकी शक्तिका ह्रास अन्तर्द्वन्द्वसे होता है। अत: आप किसी भी संघर्षमें न फँसिये। संघर्ष विरोधी वासनाओं या विचारधाराओंकी विषमतासे उत्पन्न होता है। इस विषमतासे सावधान रहिये। अपने आदर्श इतने ऊँचे न बना लीजिये कि वे कभी पूर्ण न हों और आदर्शों तथा भोगेच्छाओंमें विषमता न बनी रहे। अपने आदर्शों और इच्छाओंमें समता उत्पन्न कीजिये। समतासे स्थायी मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

इच्छाओंका शोध कीजिये अर्थात् इच्छाओं, वासनाओं तथा अपनी शक्तिके प्रकाशनके लिये कोई उत्तम कार्य ढूँढ़ निकालिये। उसीमें संलग्न रहकर अपने आदर्शोंको व्यवहारके योग्य बनाइये। संसारमें इच्छाओंके शोधके लिये आपको अनेक उत्तम कार्य मिल जायँगे। स्वदेश-सेवा, समाजसुधार, साहित्य-सेवा, भजन-पूजन, अध्ययन, फूल-पौधोंसे प्रेम, पशु-पक्षियोंका अध्ययन, विज्ञान, मशीनरीसे दिलचस्पी, घरकी सफाई, बच्चोंको पढ़ानेका काम—कोई भी उपयोगी कार्य लेकर उसमें अपने-आपको व्यस्त रखिये। मनका उपयोग करनेसे ही मानसिक शक्तियोंका विकास होता है।

मनको नये उत्तम विचारोंसे भरे रखिये। मस्तिष्कमें जितने ही नवीन शान्तिदायक विचार आयेंगे, उतना ही मन सबल होगा। खेद, शोक, चिन्ता और भविष्यके कल्पित दु:खोंके विचार स्मरण, बल, पुरुषार्थ, स्फूर्ति और सामर्थ्यको नष्ट कर डालते हैं। निरुपयोगी विचारोंका बहिष्कार कीजिये। नवीन जीवनका नियम यही है कि निरुपयोगी विचारोंको—स्वभावको निर्मूल करो और मनमें सामर्थ्ययुक्त नवीन उत्पादक विचारोंकी वृद्धि करो। नवीन विचार—उत्साह, प्रेम, उन्नति, विश्वास, प्रगति, शान्तिकी भावनाओंका स्वागत करनेसे मस्तिष्कका मानस-व्यापार व्यापक होता है, मन प्रफुल्लित हो जाता है, जीवन और बलकी वृद्धि होती है, मन तथा बुद्धि तेजस्वी बनते हैं और इच्छानुसार मानसिक शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं।

नैराश्यसे ग्रसित व्यक्तिको आन्तरिक संतुलन प्राप्त करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा और उसपर अमल करना चाहिये। चिन्तासे घबराना नहीं चाहिये, वरं चिन्ताके कारणोंको सुलझाकर एक-एकको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक

कारणको या तो स्वयं ही अथवा दूसरोंकी सहायतासे सुलझाकर नष्ट कर देना चाहिये। उन्हें गुप-चुप मनमें न ठहरने देना चाहिये। मनकी अद्भुत शक्तियोंका ह्रास अन्तर्द्वन्द्वसे होता है। अतः इसे मानसिक जगत्‌में स्थान न देना चाहिये।

आपको जब चिन्ता आये, तब उसका सामना समझदारीसे कीजिये। जब आप चिन्तित हों, तब यह समझिये कि मननकी आवश्यकता आ पड़ी है। आप सोच-विचारकर चिन्ताका कारण दूर कर दीजिये और सबलता ले आइये। अनेक बार मनुष्य आचरणके प्रतिकूल कार्य कर बैठता है। फलतः उसका मन आत्मग्लानिसे भर जाता है। आत्मा उसकी भर्त्सना करती है। अपने दुष्कृत्योंके लिये पश्चात्ताप आवश्यक है। अवश्य, किंतु स्थायीरूपसे इसे मनमें स्थान देनेसे यही मानसिक रोग बन जाता है। आत्मग्लानिका अर्थ यही होना चाहिये कि भविष्यमें हम वह दुष्कृत्य न करें, आगेको सँभल जायँ, ठीक मार्ग ग्रहण कर लें। आप पुण्यको, सत्यको, प्रेमको ग्रहण करनेका प्रण करें, मनमें शुभ कल्पनाएँ रखें, शुभ भावनाओंमें रमण करें—यही नैराश्यसे मुक्त होनेका सर्वोत्तम उपाय है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्वसे मुक्त होनेके लिये आत्मनिर्देश या सजेशनसे सहायता लीजिये। मनको बलवान् बनानेका एकमात्र उपाय आत्मनिर्देश ही है। अपनी आत्माके सर्वोत्तम गुणोंको विकसित एवं जाग्रत् करनेके लिये निर्देशका ही उपयोग कीजिये।

सावधान! अज्ञानसे परिचित रहना

जिसे ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति एक ऐसे अन्धकारमें निवास करता है, जिसमें उसे कूपमण्डूककी भाँति जीवनके क्षुद्र स्वार्थ ही दीखते हैं। महर्षि वाल्मीकि ज्ञान-प्राप्तिसे पूर्व एक हिंसक चोरका जीवन-यापन किया करते थे। आने-जानेवाले पथिकोंको लूटना, हत्या करना और अपने छोटे-से परिवारकी जीविकाका प्रबन्ध करना उनका काम था। एक दिन नारद मुनि उधरसे निकले

और वाल्मीकिके हाथों पकड़े गये। नारदजीने वाल्मीकिको स्वार्थ-परमार्थकी सच्ची व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की। हिंसक चोरके आन्तरिक नेत्र यकायक खुल गये। उसको अपने समस्त पूर्वकृत्य अन्तर्मनमें पापमय दुर्भावपूर्ण प्रतीत हुए। मनमें आत्म-ग्लानिका उदय हुआ। उसने देखा कि उसका आधेसे अधिक जीवन निम्नस्तरका जीवन व्यतीत करनेमें निकल चुका था, जिसमें अज्ञानजन्य विकारोंके अतिरिक्त कुछ भी न था।

जो आन्तरिक अवस्था वाल्मीकिकी हुई, वह आत्मज्ञानका प्रथम सोपान है। जिनके मनमें अन्तरात्मा जाग्रत् है, वे ही आत्मग्लानिका अनुभव करते हैं। अज्ञानीकी अन्तरात्मा सुप्तावस्थामें रहती है। वह साधारणतः पशु-जीवनके स्तरपर रहता है। भोजन तथा मैथुनके अतिरिक्त उसे अन्य उच्च मनोरंजनोंका ज्ञान नहीं होता। उसका दृष्टिकोण परिमित रहता है। उसे यह भान ही नहीं होता कि इन पार्थिव प्रसंगोंके अतिरिक्त भी कोई उच्चतर जीवन है।

जो साधक अज्ञानसे परिचित हो गया है, उसने आध्यात्मिक उन्नतिका प्रथम सोपान तय करना शुरू कर दिया है। वह मोहमायामय क्षुद्र जीवनसे जाग्रत् हो गया है। उसका स्वप्न टूट गया है तथा शुद्ध ज्ञानमय ज्योतिका प्रकाश प्रारम्भ हो गया है। यह जागृति आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रथम रश्मि है। यह अवस्था कुछ व्यक्तियोंमें सत्संग, चिन्तन, मनन या किसी आकस्मिक ठेससे अन्योंकी अपेक्षा शीघ्र आ जाती है। कुछ अन्ततक अपरिपक्व, चंचल, अस्थिर, क्षुद्र और छोटी बातोंमें ही लगे रहते हैं।

अवस्थाके साथ-साथ मनुष्योंको सांसारिक विषयोंसे (जैसे कामवासना-मूलक आनन्द, बड़ी आयुमें पुनर्विवाह, वस्त्रोंका चटकीलापन, जिह्वाके नाना स्वाद, सिनेमा, चटपटे मसालेदार चाट, पकौड़ी, विलासमय जीवन) विरक्त होकर उच्चविषयक तत्त्वोंकी ओर आकृष्ट होना चाहिये। इनमें भजन-पूजन, आराधन, सत्संग, कीर्तन, सद्ग्रन्थावलोकन, जीवन-उद्देश्यके प्रति चिन्तन, मोहका धीरे-धीरे तोड़ना इत्यादि सम्मिलित हैं। बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि क्रमशः छोटी बातोंके प्रति वैराग्य धारणकर ज्ञानसे परिपूर्ण जीवनमें रुचि

उत्पन्न करे। स्वार्थ एवं संकुचितताके स्थानपर निःस्वार्थभावसे जनसमुदायकी सेवाके निमित्त उदारता, आत्मभावका प्रसार, समाज-सेवा, दुःखी-त्रस्त-उद्विग्नके प्रति दया आदि मानस-शान्तिका विकास करता चले। सांसारिक सुख देनेवाले किंतु अंदरसे खोखले विषयोंका परित्याग कर भगवत्पूजन तथा ब्रह्म-चिन्तनमें अधिक समय व्यतीत करे।

अज्ञानके अंधकारसे ज्ञानके शुभ्र प्रकाशमें आनेके क्या लक्षण हैं? इन्द्रियोंका विषयोंसे क्रमशः उपरत होना ब्रह्मज्ञानकी ओर प्रगतिका प्रथम लक्षण है। भगवान्‌का निर्देश है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषरहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ प्रसादको—प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इस दैवी आनन्दसे समस्त सांसारिक दुःखोंका नाश हो जाता है।'

सांसारिक भोगसे क्रमशः वैराग्य प्राप्तकर, बाह्य सुख-दुःखोंकी उपेक्षा कर अपने प्रकाशमय अन्तःकरणमें ही ब्रह्मचिन्तन करनेसे शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही ब्रह्मनिष्ठ साधक ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। हृदयसे अज्ञानरूपी ग्रन्थिका कट जाना ही मोक्ष है—

अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।

(शिवगीता १३। ३२)

इस पृथ्वीतलपर वे पुरुष धन्य हैं, जो ज्ञानवान् हैं। उन्हींके द्वारा महान् कार्य सम्पन्न होते हैं।

अपने कामको ईमानदारीसे पूर्ण करना ही प्रभुकी पूजा है

गीतामें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण वचन है, जिसकी सिद्धि प्रत्येक कर्ममें निरत साधकके लिये उपयोगी है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अर्थात् जो व्यक्ति अपने कार्यको सचाईसे परिपूर्ण करता है, वह प्रभुकी पूजा करता है और उसीसे उसको सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

हम सब भिन्न-भिन्न कार्य मानव-समाजके लिये सम्पन्न कर रहे हैं। कृषक दिन-रात खून-पसीना एक कर अन्नोत्पादन करते हैं। मजदूर दिनभर कठिन परिश्रम करते हैं। बनिये नाना स्थानोंसे वस्तुएँ ला-लाकर गृहस्थोंके लिये उपादेय बनाते हैं। ब्राह्मणवर्ग ज्ञान प्राप्तकर साधारण जनताको विद्यादान देनेमें निरत हैं। इसके अतिरिक्त एक बड़ा भाग उन शूद्रोंका है, जो दिन-रात सवर्णोंकी सेवा किया करते हैं। संक्षेपमें, प्रत्येक नागरिकके पास कोई-न-कोई काम है। वह इसे अर्थप्राप्ति—जीविकोपार्जनके लिये करता है। बिना काम किये उसे रोटी नहीं प्राप्त होती। संसारका नियम कुछ ऐसा है कि जो जितना काम करे, उसे उतना ही सुख-सुविधा प्राप्त हो। परिश्रमके अनुसार समृद्धि प्राप्त होना ईश्वरीय व्यवस्था है।

किंतु आज हम देखते हैं कि इस ईश्वरीय व्यवस्थामें धीरे-धीरे हमारी नीची भावनासे भ्रष्टाचार आ गया है। कुछ दिनोंकी बात है, हमने एक कम्पाउण्डरसे पूछा—'भाई साहब! आपकी आय पैंतालीस रुपये मासिक है, सात-आठ व्यक्ति कुटुम्बमें हैं। आपलोग अच्छा खाते, अच्छा पहनते हैं। तिसपर आप मकान बनवा रहे हैं। आप कैसे यह आर्थिक व्यवस्था कर लेते हैं। बतलाइये?'

वे बोले—छः हजारमें कच्चा टूटा-फूटा मकान लिया था। ऊपरसे सात-आठ हजार और लग गये। तब कहीं यह मकान तैयार हुआ है। प्रोफेसर साहब! 'शफाखानेकी बँधी आमदनीमें क्या होता है। ऊपरकी आमदनीसे ही काम

चलता है। यदि ऊपरसे न कमायें, तो काम कैसे चले। न साफ कपड़े मिलें, न रहनेके लिये घरबार ही।'

और यह ऊपरकी आमदनी आती किस प्रकार है? मुफ्तके अस्पतालसे लायी हुई दवाइयोंका एक शफाखाना कम्पाउण्डर साहबके घरमें चलता है। यहाँ मरीजोंका ठीक ड्रेसिंग न कर उन्हें घरपर पट्टी बँधाने आनेके लिये बाध्य किया जाता है, जहाँ उन्हें पैसे देने पड़ते हैं। प्रत्येक मरीजके घर जानेका एक-एक रुपया अलगसे रहा। यदि कोई ऑपरेशनका रोगी फँस गया तो कुछ न पूछिये, मासका वेतन उसीसे वसूल हुआ समझिये। यह एक उदाहरण है; उस सार्वजनिक जीवनकी बीमारीका जो हमें खाये जा रही है।

इसी प्रकारके रिश्वत, भ्रष्टाचार, काला बाजार या श्रमकी चोरीके सैकड़ों उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। जो व्यक्ति कोर्टके मुकदमोंमें फँसा है, वह जानता है कि प्रत्येक चपरासीसे लेकर मुहर्रिर, नकलनवीस तथा उच्च अधिकारीतक ऊपरकी आमदनी कमानेमें व्यस्त हैं। शिक्षा-संस्थाओंमें जो कार्य अध्यापकोंको निज कर्तव्य समझकर प्रेम और उदारतासे सम्पन्न करना चाहिये, उसीका व्यापार किया जाता है। यह हमारे सार्वजनिक जीवनका कलंक है।

जो सार्वजनिक संस्थाओंमें नौकर हैं और राज्यसे वेतन प्राप्त करते हैं, उनका यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि अपने पेशेसे सम्बन्धित नाना कार्योंको प्रभुकी सेवाके समान पवित्र समझकर सम्पन्न करें।

जनता प्रभुका रूप है। जनता-जनार्दनकी सेवा करना परमेश्वरकी पूजा करनेसे कम नहीं है। अध्यापक, पुलिस-कर्मचारी, डॉक्टर, कम्पाउण्डर, कचहरियोंके तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओंके कार्यकर्ता नित्यप्रति जनताके निकट-सम्पर्कमें आते रहते हैं। उन्हें अपने-आपको सौभाग्यशाली समझना चाहिये कि प्रभुस्वरूप जनताकी सेवा करनेका पुण्य अवसर प्राप्त हो रहा है।

पापकी कमाई नष्ट हो जाती है। रिश्वतसे कमाया हुआ धन क्षणभरमें निकल जाता है। धोखेबाजी, चोरी, अनुचित उपायोंसे जनताको डरा-धमकाकर अर्जित धन कभी नहीं फलता-फूलता। धर्मकी कमाईका एक पैसा झूठ और बेईमानी द्वारा अर्जित हजार रुपयेसे कहीं श्रेष्ठ है।

कार्लाइलने निर्देश किया है, Work is worship अर्थात् कार्य ही पूजा है। इस विद्वान्के इस वाक्यमें गहरी सत्यता निहित है। जब हम अपने कार्यको पूजा मानकर करते हैं, तब हमारे अंदर ईश्वरीय शक्तिद्वारा प्रकाशित अनुपम ईमानदारी, सहृदयता, पवित्रता, साधुता, सरलता, शक्ति, कार्यनिष्ठा जाग्रत् हो जाती है। हमारे तन, मन, प्राण एकरस होकर काममें एकाग्र हो जाते है। एक गुप्त-शक्ति हमारे कण-कणमें कामके प्रति दिलचस्पी और एकरसता भर देती है। जिसने अपनी भावनाका तार-तार ईश्वरसे संयुक्त कर दिया है, वह जानता है कि दैवीशक्तिके तादात्म्यसे हमारी कार्यसम्पादिका शक्तिकी कैसी सुन्दर तथा महान् अभिवृद्धि हो जाती है।

बौद्धिक दृष्टिकोणसे अधूरा, अधकचरा, अपूर्ण काम करना या पैसे लेकर पूरा श्रम न करना पूर्ण अन्याय है। कहाँका न्याय है कि हम मजदूरी तो पूरी लें और समय व्यर्थ लुक-छिपकर काट दें? हमें स्मरण रखना चाहिये कि न्याय सर्वोपरि है, न्याय यम-नियमकी आत्मा है; मानवताका दुग्ध है, योगका आधार है और धर्मका स्तम्भ है। सत्य सत्यके लिये प्यारा नहीं है, न्यायके लिये प्यारा है। अस्तेय अस्तेयके लिये नहीं न्यायके लिये है। कामकी चोरी अन्याय है। हमारे नैतिक जीवनके लिये नितान्त अनुचित है। जब हम दूसरी तरहकी चोरियोंसे परहेज करते हैं और उन्हें निन्द्य मानते हैं, तब पूरा काम न करना या कामसे जी चुराकर अधिक रुपयेके लोभसे काम करना भी निन्द्य समझना चाहिये।

यदि हम अपने स्थानपर रहकर पूरा और खरा काम करते हैं, अनुचित रीतिसे आर्थिक लोभवश अपने मालिकोंको धोखा नहीं देते हैं तो हम कर्ममार्गके पथिक बन जाते हैं। श्रीमती लिली एल० एलन्का विचार है कि 'पूरे और खरे कार्यके समक्ष सबको झुकना पड़ता है। जो छोटा-से-छोटा कार्य निकम्मा, अधूरा अथवा आधे मनसे किया जाता है, वही परमात्माकी सेवा या अपना कर्तव्य समझकर सम्पूर्ण चातुर्य तथा कलासे अच्छा भी किया जा सकता है। किसी भी स्त्री या पुरुषके लिये इससे अधिक लज्जा और पतनकी क्या बात होगी—'उसे एक कार्यको दुबारा करनेके लिये कहा जाय कि उसने अपना

कार्य आधे मनसे किया है।'

जिस शैली या ढंगसे कोई कार्य किया जाता है, वही कार्य करनेवाले व्यक्तिके चरित्रको प्रकट कर देता है। रिश्वत या ऊपरकी आमदनीके मोहमें फँसे हुए आदमीका दिल कार्यमें नहीं होता। वह आदमी चाहे किसी परिस्थितिमें क्यों न हो, कम काम करके अधिक पैसा खींचनेके लोभमें लगा रहता है। यह वृत्ति सर्वथा त्याज्य है। कुछ व्यक्ति मालिककी उपस्थितिमें तो कार्य करते हैं; किंतु अनुपस्थितिमें कुछ नहीं करना चाहते। ऐसे व्यक्ति भी चोर हैं। हमें अपने जीवनको वास्तविक इतना पूर्ण एवं परिश्रमी बनाना चाहिये कि ऊपरसे कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा ही मनमें शेष न रहे।

स्वाध्यायमें प्रमाद न करें

मनुष्यका समस्त ज्ञान पुस्तकोंमें संचित है। जबसे लेखनका आविष्कार हुआ तबसे यह ज्ञान मनुष्योंने लिपिबद्धकर संचित किया है। जब हम किसी ग्रन्थका स्वाध्याय करते हैं, तब दूसरे अर्थोंमें एक विकसित मस्तिष्कके जीवन-सम्बन्धी अनुभवोंको ग्रहण करते हैं।

मनुष्यका ज्ञान दो प्रकारसे विकसित होता है। सर्वप्रथम उसके सांसारिक अनुभवके द्वारा। मनुष्य स्वयं गलती करता है, सजा पाता है, प्रकृति उसे रोग-व्याधिके रूपमें नाना प्रकारकी सजाएँ देती है। सांसारिक जीवनमें उसे मिथ्याचार, झूठ, कपट, दूसरोंका स्वार्थ, धोखा इत्यादिका कटु अनुभव होता है। जिस प्रकार एक पर्वतसे निकलकर बहनेवाली सरिता अपना मार्ग अनेक कठिनाइयोंके बावजूद संघर्ष करते हुए बनाती है, मानव भी अनेक कटु-मृदु अनुभवोंकी पाठशालामें शिक्षण प्राप्त करता चलता है। ज्ञानप्राप्तिका यह मार्ग बड़ा लंबा है।

दूसरा मार्ग स्वाध्यायका है। स्वाध्यायका अभिप्राय है पुस्तकोंके अध्ययनद्वारा प्राचीन या अर्वाचीन महापुरुषोंके अनुभवोंको ग्रहण करना, जीवनकी समस्याओंसे उन्हें जोड़ना, उनसे अपने जीवनमें कार्य लेना, गलतीके अवसरोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना, किसी त्रुटिका क्या प्रभाव या फल होता है, इसे जान लेना। यह

पुस्तकोंके स्वाध्याय (स्वयं अध्ययन)-से ही प्राप्त हो सकता है।

आहारके अभावमें जिस प्रकार शरीर दुर्बल कृशकाय हो जाता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि और जिज्ञासाको मानसिक भोजन न देनेसे मनुष्यकी मानसिक उन्नति नहीं हो पाती। सत्साहित्यका अध्ययन मनुष्यके लिये अतीव आवश्यक एवं उपकारी कार्य है।

स्वाध्यायके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये कितना प्रेरणापूर्ण आदेश दिया गया है; देखिये—

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

(गीता १७। १५)

अर्थात् स्वाध्याय करना वाणीका तप है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(योग० १। २८ व्यासभाष्य)

अर्थात् स्वाध्यायसे योगकी उपासना करे और योगसे स्वाध्यायका अभ्यास करे। स्वाध्यायकी सम्पत्तिसे परमात्माका साक्षात्कार होता है।

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति'।

(छान्दोग्य० २। २३। १)

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, स्वाध्याय और दान।

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥'

(योग० २। १)

अर्थात्—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—यह क्रियायोग है।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (श्रुति)

अर्थात्—स्वाध्याय करनेमें भूल मत करो।

शतपथमें लिखा है—'जिस दिन स्वाध्याय नहीं करता, उसी दिन ब्राह्मण अब्राह्मण हो जाता है।' इसलिये नित्यप्रति स्वाध्याय करना चाहिये। इस पृथ्वी और द्युलोकके बीचमें जो कुछ भी है, उसमें स्वाध्याय सर्वोपरि है। इस धन-धान्यपूर्ण समस्त पृथ्वीका दान करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उससे तिगुना

पुण्य अथवा और भी अधिक अक्षय पुण्य उस पुरुषको मिलता है जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है।

स्वाध्याय मानसिक उन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। जब हम अपनेसे अधिक विकसित, अनुभवी विद्वानोंके विचारोंको मनमें ग्रहण करते हैं, तब उनसे मानसिक ज्ञानकी वृद्धि होती है। जिसे ज्ञानप्राप्तिकी आन्तरिक आकांक्षा होती है, वह अपने बलसे, अपने परिश्रमसे विद्वान् बनता है।

स्वाध्याय क्या है?

'स्वाध्याय' शब्दको गम्भीरतासे देखनेपर विदित होता है कि इसका अभिप्राय 'स्वयमध्ययनम्' है अर्थात् अपने-आप बिना दूसरेकी सहायताके अध्ययन करना। स्वाध्यायमें जो तत्त्व सहायक हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) विचार—पुस्तकोंके विचार पढ़कर खुद समझनेका प्रयत्न करना, दूसरे विद्वानोंके विचारोंको मनमें धारण करना। (२) चिन्तन—यह सोचना कि हम स्वयं उन विचारोंसे कहाँतक सहमत हैं। (३) मनन—उनके ऊपर अपनी मौलिक धारणाएँ आरोपितकर पचाना। इन तीनों क्रियाओंद्वारा हम जीवन, समाज तथा धर्मसम्बन्धी सर्वतोमुखी समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं।

स्वाध्यायका एक द्वितीय अर्थ भी है—'स्व', अर्थात् अपना। अपना अध्ययन करना। विस्तृत अर्थोंमें इसका अभिप्राय यह है कि आत्मचिन्तनद्वारा अपनी वृत्तियोंका अध्ययन करना, आसुरी वृत्तियोंपर विजय तथा दैवी सम्पत्तियोंका विकास। दोनों ही अर्थोंमें स्वाध्याय आध्यात्मिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओंको समझनेमें हमारा सहायक होता है।

स्वाध्याय करनेवाला स्वयं अध्ययन करता है। उसे ज्ञानकी पिपासा इतनी तीव्र होती है कि मार्गमें आनेवाली समग्र अड़चनें धीरे-धीरे दूर होती जाती हैं। उसे विद्यासे प्रेम होता है। विद्याके द्वारा वह अपने ज्ञानकी वृद्धि प्राप्त करता है। वह दूसरोंका विविध विषयक अनुभव प्राप्त करना चाहता है, जिससे उसे जीवन-यात्रामें किसी प्रकारकी अड़चन उपस्थित न हो। स्वाध्याय उसके जीवनका एक अंग बन जाता है। उसे अपने ज्ञानकी कमी सदैव बेचैन करती

है, अतएव उसे पूर्ण करनेके लिये वह सदा-सर्वदा प्रयत्नशील रहता है।

स्वाध्याय करनेवाला केवल पुस्तकोंका लालची नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति पुस्तक खरीदनेके अतीव इच्छुक रहते हैं; किंतु अध्ययन तथा मननकी ओर उनकी कोई स्वाभाविक रुचि नहीं होती। हमारे एक परिचित मित्र शहरके धनी-मानी प्रतिष्ठित व्यक्तियोंमें हैं। उन्हें यह व्यसन है कि एक-से-एक मूल्यवान् पुस्तक खरीदेंगे। पुस्तकालय बड़ा सुन्दर है, अलभ्य पुस्तकें उनमें उपलब्ध हैं; पर आप स्वयं पुस्तकें नहीं पढ़ते, दूसरेके सामने उनका प्रदर्शन करनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। जिन मोटी-मोटी पुस्तकोंको कोई न पढ़े, जो आभूषणोंकी भाँति केवल प्रदर्शनमात्रके लिये हों, उनसे कोई लाभ नहीं। पुस्तककी उपयोगिता अध्ययनसे है। पुस्तकका अध्ययन अधिक-से-अधिक होना चाहिये। आप स्वयं पढ़ें, दूसरोंको वितरित करें, पुस्तकके विषयमें विचार-विमर्श करें, स्वयं अपनी ज्ञान-वृद्धि करें और दूसरोंको प्रोत्साहित करें।

कुछ व्यक्ति कहा करते हैं कि 'क्या बतायें, नयी पुस्तकें, नये विषय समझमें नहीं आते। शब्दोंकी कठिनता है; भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं; अनेक ऐसे स्थल आ जाते हैं जिन्हें हम समझ नहीं पाते।' इत्यादि।

ऐसे शंकाशील महानुभावोंको स्मरण रखना चाहिये कि अध्ययन-सम्बन्धी सभी कठिनाइयाँ दृढ़ निश्चय तथा तीव्र जिज्ञासाके सम्मुख विलुप्त हो जाती हैं। जो ऐसी बातें करते हैं, वे वास्तवमें स्वयं ही नहीं पढ़ना समझना चाहते। व्यर्थ ही अपनी परिस्थितियोंको दोष देते हैं। आजकल अध्ययन, पठन-पाठन, योग्यता बढ़ानेके साधन इतने सस्ते और जन-साधारणके लिये आसान हो गये हैं कि कम-से-कम पैसोंमें मनुष्य अच्छी-से-अच्छी पुस्तकोंको अध्ययनके लिये प्राप्त कर सकता है। बहुत-सी पुस्तकोंके सस्ते संस्करण कम-से-कम मूल्यमें उपलब्ध हो सकते हैं। प्रत्येक शहरमें कोई-न-कोई सार्वजनिक या कॉलेजका पुस्तकालय होता है, जहाँसे मेम्बर बनकर अध्ययनके लिये पुस्तकें उधार ली जा सकती हैं। शहरमें ढूँढ़नेपर ऐसे पुस्तकप्रेमी सज्जन भी मिल सकते हैं जो पढ़नेके लिये आपको पुस्तक दे सकते हैं, यदि आप उन्हें खराब न करें और वादेपर लौटा दें।

समाचारपत्रोंके लिये वाचनालय प्राप्त हो सकते हैं। यदि नया समाचारपत्र

प्राप्त न हो सके, तो एक दिन पुराना अखबार ही ले लें। उसमें सम्पादकीय तथा अन्य स्थायी रुचिके लेख मिल सकते हैं। एक-एक विषयकी फाइलें बनाकर एक ही विषयके कटिंग संकलित किये जा सकते हैं। ये कटिंग किसी भी विषयपर एक पुस्तकका कार्य करते हैं।

लैकाडियो हर्न नामक अंग्रेज विद्वानने अध्ययन-सम्बन्धी कई प्रश्नोंपर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। आप लिखते हैं कि हममें बहुत कम व्यक्ति यह जानते हैं कि किसी ग्रन्थका स्वाध्याय किस प्रकार करना चाहिये। पढ़नेसे पूर्व हमारे अंदर ज्ञानप्राप्तिकी एक तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिये तथा उत्तम पुस्तकोंके चुनावका ज्ञान। ये तत्त्व हमें धीरे-धीरे साहित्यके साथ दीर्घ जीवनसे प्राप्त हो सकते हैं। पढ़नेवाले व्यक्तियोंमें ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं, जो अध्ययनका यथार्थ क्रम जानते हैं। पचीस वर्षसे कम आयुवाले प्रायः अपरिपक्व विचलित मनवाले व्यक्ति होते हैं, जिनका मन गम्भीर विषयोंपर एकाग्र नहीं हो पाता।

स्वाध्यायका अर्थ है किसी बड़े लेखकके मूल तात्पर्यको समझनेकी कला अर्थात् प्रत्येक विचारको पचानेकी शक्ति। लेखकके अभीष्टका ठीक तरह हृदयंगम करना ही हमारा उद्‌देश्य होना चाहिये। हमारा मन अध्ययनमें पूर्णरूपसे रम जाय, हम तादात्म्य-भावका अनुभव कर सकते हैं।

कुछ व्यक्ति पुस्तकोंको केवल कहानीके लिये ही पढ़ना चाहते हैं। पढ़नेके द्वारा उनका उद्‌देश्य केवल मनोरंजनमात्र होता है। ऐसे व्यक्ति अस्थिर-चित्त एवं चंचल वृत्तिवाले होते हैं। गम्भीर साहित्यको वे कभी मनोयोगपूर्वक नहीं पढ़ पाते, न पढ़े हुए विद्वान्‌के विचारोंके सम्बन्धमें अपने स्वतन्त्र विचार एवं सम्मति ही प्रकट कर सकते हैं। पढ़ना तथा अध्ययन दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। ध्यानपूर्वक समझ-समझकर पूर्ण हृदयंगम करनेका तात्पर्य अध्ययन है। यों मामूली तौरपर किसी पुस्तकको लेकर सरसरी निगाह डालना अध्ययनकी उचित प्रणाली नहीं है। मनोविनोदके लिये कथा-उपन्यास पढ़ना तो नशीली वस्तुके सेवनके समान अनर्थकारी है।

अध्ययन कैसे करें ?

प्रायः अधिकांश व्यक्ति मानसिक रूपसे आलसी होते हैं। जब वे परीक्षाके लिये किसी पुस्तकको तैयार करने बैठते हैं, तब वे उसका अध्ययन नहीं करते, प्रत्युत घोड़ेकी तरह सरपट दौड़े जाते हैं। पुस्तक पढ़नेके पश्चात् यदि आप उनसे प्रश्न करें कि क्या पढ़ा है, तो वे कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते। कारण, उनकी स्मृति पुस्तकसे कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाती। ज्ञान ऊपरसे ही निकल जाता है, नवीन संस्कार दृढ़तासे मन नहीं पकड़ पाता। इसी प्रकार कुछ विद्यार्थियोंको उत्तेजक उपन्यास, कहानियाँ पढ़नेकी इच्छा होती है। प्रतिदिन वे नयी पुस्तक पढ़ते हैं, किंतु उनके मनमें केवल एक हलकी-सी छायामात्र रह जाती है।

हमें चाहिये कि मनकी इस भाग-दौड़ और भँवर-वृत्तिसे छुटकारा प्राप्त करें। किसी पुस्तकसे स्थायी लाभ प्राप्त करनेके लिये हमें चाहिये कि पुस्तकको धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक पढ़ें। कुछ पढ़नेके पश्चात् रुकें तथा अपने-आपसे प्रश्न करते रहें—'हमने अभीतक क्या पढ़ा है?' यदि मनपर नये संस्कार नहीं पड़े हैं तथा स्मृतिने कुछ ग्रहण नहीं किया है तो हमें पुनः उस भागको पढ़ना चाहिये; यहाँतक कि नये संस्कार जटिलतासे अंकित हो जायँ। अध्ययन करते समय इन तत्त्वोंपर विशेष ध्यान रखिये—

१-मनन—अर्थात् पढ़ी हुई बातका पुनः-पुनः स्मरण, चिन्तन और विचार करना जिससे कि वह मनमें बैठ सके और भूला न जा सके। पढ़ी हुई बातपर जितना ही चिन्तन किया जायगा, वह उतनी ही स्मृतिमें अच्छी तरह बस जायगी।

२-पूर्व-पर्यवेक्षण—जो कुछ आप पहले पढ़ चुके हैं, उसे नये ज्ञानसे संयुक्त करना; उसे न भूलना वरं नये विचारसे उसका मिलान करना। यदि पिछला भूलते जायँ और आगे पढ़ते जायँ तो कोई लाभ नहीं है। अध्ययनका सम्बन्ध विचारसे है। टामस हाब्सने कहा है कि यदि मैं उतना ही पढ़ता जितना दूसरे लोग पढ़ते हैं तो मेरा ज्ञान उतना ही कम होता। कारण, लोग पहले पढ़ेपर सोच-विचार करना नहीं चाहते। उनकी मानसिक पाचन-क्रिया ठीक नहीं है।

यूनानी तत्त्वज्ञानी डीमाक्रोटसने जो ईसासे तीन वर्ष पूर्व हुए थे, अपने नेत्र

इसीलिये निकलवा डाले थे जिससे व्यर्थ कागजपर नेत्र दौड़ानेके स्थानपर वे मनन और चिन्तन कर सकें। पुनः-पुनः स्मृतिमें संगृहीत ज्ञानकी आवृत्ति करनेसे ज्ञान दृढ़ होता है और संस्कार परिपुष्ट होते हैं।

३-ध्यानावस्थिति—मनका तेजीसे पुस्तकके विषयपर दत्तचित्तरूपमें लगे रहना। जितना ही अधिक आपका ध्यान विषयमें लगा रहेगा, उतना ही आपका मन नये ज्ञानको ग्रहण करेगा। प्रायः लोग रुचिपूर्वक पुस्तकके विषयमें दिलचस्पी नहीं लेते, अतः उसपर ध्यान नहीं लगता। कोई भी लाभ पठन-पाठनसे नहीं होता। ध्यानको अधिक-से-अधिक लगाये रखनेसे ही नया ज्ञान अन्तस्तलमें अंकित होता है। बहुधा लोगोंकी आँखें तो पुस्तकपर रहती हैं, मन कहीं अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है। जबतक मनकी आँखें नये ज्ञानपर केन्द्रित नहीं होंगी, विचार मनमें न ठहरेंगे। अधूरे विचारोंको नोट करनेसे ध्यान लगा रहता है।

४-स्मृतिको दृढ़ बनाना—स्मृतिको मजबूत करना चाहिये। स्मृतिके खजानेमें ही सब ज्ञान संचित रहता है। स्मृति हमारे बौद्धिक विकासका प्रथम सोपान है। यदि हमारा ज्ञान स्मृतिमें सुरक्षित होता रहे तो निरन्तर ज्ञानवृद्धि होती रहे।

स्मृतिको मजबूत करनेके लिये नोट लेने तथा पुस्तकपर कठिन और उपयोगी स्थलोंपर निशान लगानेकी आदत डालनी चाहिये। डेल कार्नेगीने लिखा है, हाथमें लाल पेंसिल, काली पेंसिल या फाउन्टेनपेन लेकर पढ़िये। जब-जब आप ऐसा संकेत देखें जिसका उपयोग आप अनुभव करते हैं या भविष्यमें कर सकते हैं, उसके नीचे लकीर खींच दीजिये। चिह्न लगानेसे या नीचे लकीर खींचनेसे पुस्तक अधिक मनोरंजक बन जाती है और उसको जल्दीसे पुनः पढ़ जाना सरल हो जाता है। जिस शीघ्रतासे हम भूलते हैं, इसे देखकर आश्चर्य होता है। वास्तविक और स्थायी लाभ प्राप्त करना चाहते हैं तो मत समझिये कि पुस्तकको एक बार सरसरी तौरपर पढ़ जाना पर्याप्त होगा। भलीभाँति पढ़ जानेके पश्चात् भी आपको प्रतिमास उसपर दुबारा कुछ घंटे अवश्य व्यय करने चाहिये। जिस पुस्तकको आप पचाना चाहते हैं, उसे नित अपने सामने मेजपर रखिये, निरन्तर मनपर संस्कार डालते रहिये।

स्मरण रहे, जब आप उपर्युक्त सिद्धान्तोंपर बार-बार विचार और इनका

बार-बार प्रयोग करेंगे, तभी ये आपके स्वभावका एक अंग बनेंगे। प्रत्येक अध्यायको बार-बार पढ़नेके उपरान्त ही तीसरेमें हाथ लगाइये। पढ़ते समय अपने मनसे यह पूछते रहिये कि प्रत्येक संकेतका प्रयोग आप कैसे कर सकते हैं। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विचारपर चिह्न लगाइये और पुनर्विचार कीजिये।

सुप्रसिद्ध विद्वान् संतरामजीने मानसिक जीवनमें सफलता प्राप्त करने तथा स्मृतिको पुष्ट करनेके लिये नोट लेनेकी आदतपर विशेष जोर डाला है। आप लिखते हैं, 'व्याख्यानों, नाटकों, भाषणों, पुस्तकों और वार्तालापोंकी अच्छी बातें, नवीन शैलियाँ, उत्तेजक विचार—ये सब यदि हम उन्हें भलीभाँति नोट न कर लें, तो हमारी स्मृतिसे निकल जाते हैं। यदि हमारा मनोयोग इतना अनिश्चित है कि केवल क्षणस्थायी संस्कार ही बनता है, तो वह अध्ययन निष्फल हो जाता है। विचार बहुत शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तु है। हमारी स्मृतियाँ बड़े-बड़े छेदोंवाली चलनीकी भाँति टपकती हैं।'

हेनरी हैजलिट विचारोंकी गतिके विषयमें कहते हैं, 'विचार द्रुत गतिसे दौड़े जा रहे हैं, उनको पकड़नेके किसी भी उपायका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।'

राबर्ट लुई स्टीवनसेनके पास सदा दो पुस्तकें रहती थीं—एक पढ़नेके लिये तथा दूसरी अपने विचार उसपर लिखनेके लिये। वह सदा नोट करनेका आदी था। उसका खयाल था कि जो विचार लिख लिये जाते हैं, वे स्थायी बनकर स्मृतिमें जम जाते हैं।

टामस हाब्स प्रातः भ्रमणको जाते समय हाथमें एक मोटा डंडा रखता था। उन दिनों (१७वीं शताब्दीमें) फाउन्टेनपेन नहीं थी। वह उसी सोटेके सिरेमें दावात और कलम ऐसे ढंगसे रखता था कि दूसरोंको दृष्टिगोचर नहीं होने देता था। उसकी जेबमें एक नोटबुक होती थी, जिसमें वह भ्रमणके समय मनमें आये हुए विचारोंको नोट करता चलता था।

जोनेथन एडवर्ड्स नामक तत्त्वज्ञानीका स्मृति दृढ़ करनेका बड़ा अद्भुत तरीका था। कहते हैं, वह घोड़ेपर बैठा-बैठा अपने मनमें उठनेवाले विचारोंको लिखकर कागजकी स्लिपोंको सूईसे अपने कोटके साथ टाँकता जाता था। जिस

समय वह अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता, उन कागजोंके फड़फड़ाते हुए टुकड़ोंसे उसका अजीब ही हुलिया बना होता था।

किसी बातको स्मरण करनेकी रीति उसे पुनः-पुनः दोहराना है। दुहरानेसे संस्कार दृढ़ होते हैं। बार-बार पढ़नेसे पुस्तकोंके अनेक अंश याद हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों विवेकबुद्धिका विकास होता जाता है, त्यों-त्यों दुहरानेकी क्रियाकी कम आवश्यकता होती है। बच्चोंको याद करनेमें प्रौढ़की अपेक्षा दुगुना समय लगता है। जिस याद किये हुए पाठको हम भूल जाते हैं, उसे दुबारा स्मरण करना आसान होता है, क्योंकि पुरानी धुँधली स्मृतिके रूपमें वह फिर भी मस्तिष्कमें मौजूद होता है। सार्थक कविता, जिसमें हम रुचि लेते हैं, निरर्थक शब्दोंकी अपेक्षा आसानीसे याद होती है। यदि मन तरोताजा है, शान्त और उत्साहसे परिपूर्ण है तो पाठ जल्दी याद होता है। एक उत्तम उपाय यह है कि थोड़ा-थोड़ा करके पाठ कई दिनमें याद किया जाय और विषयको थोड़ा-थोड़ा नियमित समयके पश्चात् दोहराया जाय।

याद करनेमें अपने विचारोंका सम्बन्ध पूर्व-संचित ज्ञानसे स्थापित कीजिये। इन सम्बन्धोंसे ज्ञान जंजीरकी भाँति उलझा रहता है।

समझना तथा वेग?

किस वेगसे पढ़ें? इसका उत्तर यही है कि ग्रहण-विस्तारके अनुसार ही हमें अपने पढ़नेका वेग निर्धारित करना चाहिये। ग्रहण-विस्तार ही आपका उद्देश्य होना चाहिये तथा उसीकी अभिवृद्धिका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। ग्रहण-विस्तार नित्यप्रतिके विस्तारसे किया जा सकता है। पढ़नेकी क्रिया अधिक तेज न हो, नहीं तो, मन ग्रहण न कर सकेगा। यदि आँखें मनकी अपेक्षा अधिक तेजीसे दौड़ रही हैं तो ग्रहण-शक्ति और भी मन्द पड़ती जायगी। पुस्तकको जल्दीसे समाप्त करनेकी उतावली न कीजिये। जल्दबाजीसे मन नया ज्ञान कदापि ग्रहण नहीं करता। बाहरसे यही तृप्ति होती है कि हमने पढ़ भर लिया है। इस मानसिक दौड़से कोई लाभ नहीं है। यदि गति बढ़ानेकी इच्छा है तो विवेकबुद्धि और ग्रहण-शक्तिका विस्तार करते चलिये। पढ़नेकी गति तीव्र

बनाते समय जो आश्चर्यजनक सत्य आप अनुभव करेंगे वह यह कि पढ़नेकी गति तीव्र होनेके साथ-ही-साथ आपकी जल्दीसे समझनेकी योग्यता भी तीव्र होती जायगी। मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि प्रवीण पढ़नेवाले सदा तेज पढ़नेवाले होते हैं तथा उनकी दक्षताके दोनों अंग—तेजी और विषयको अच्छी तरह ग्रहण करते चलना—साथ-साथ चलते हैं।

शब्द-भण्डारकी वृद्धि

भाषा शब्दोंसे बनी होती है। नया शब्द सीखनेका तात्पर्य यह है कि आप अपना भाषा-ज्ञान बढ़ा रहे हैं। पढ़ते समय नये शब्दोंको सीखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। शब्दकोषकी वृद्धिसे ज्ञानवृद्धि होती है। वे विद्यार्थी कुछ ग्रहण नहीं कर पाते जो आलस्यवश कठिन शब्दोंको छोड़ते-कूदते हुए चले जाते हैं। परिचित शब्दोंके अर्थोंकी कमीके कारण न तो उन्हें पढ़नेमें रस आता है, न ज्ञान-वृद्धि ही होती है। वे कठिन पुस्तकें नहीं पढ़ सकते; कभी-कभी अर्थ भी समझमें नहीं आता। इनसे बचनेके लिये निरन्तर अपना शब्द-भण्डार और मुहावरोंकी जानकारीको बढ़ाते रहना चाहिये।

अपनी दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक परीक्षा

एक दिनमें कितना ज्ञान हमने प्राप्त किया है, इसकी जानकारी प्रतिदिन रात्रिमें चिन्तन-मननद्वारा मालूम करनी चाहिये। प्रति सप्ताह सात दिनोंके कार्योंपर विचार करना चाहिये। जाँचका कार्य महत्त्वपूर्ण है। इससे नीर-क्षीर-विवेक हो जाता है। हम जिस ज्ञानको अपना समझते हैं, वह प्रायः अधूरा, धुँधला, अपूर्ण निकलता है। मासके पश्चात् पूरे चार सप्ताहोंके ज्ञान-संचयपर विचार कीजिये। यदि जी चाहे तो किसी मित्र, बड़े भाई या पिताकी सहायतासे जाँचका कार्य हो सकता है। उनसे कहिये कि वे आपसे उन हिस्सोंमेंसे प्रश्न पूछें जो आपने तैयार किये हैं। आप लिखकर यदि परीक्षा दें तो और भी उत्तम है। लिखनेसे हिज्जोंकी गलतियाँ भी दूर होती हैं तथा ज्ञान पूर्ण बन जाता है। एक डायरी लिखा कीजिये। ज्यों-ज्यों पढ़ने-लिखनेमें दक्षता बढ़ती जायगी, आपका ग्रहण-विस्तार प्रतिमास बढ़ता जायगा।

योजना बनाकर पढ़ना

ज्यों-ज्यों ऊँची कक्षाओंके लिये तैयारी प्रारम्भ करते हैं, त्यों-त्यों उन्हें मोटी-मोटी पुस्तकोंका अध्ययन करना पड़ता है। परीक्षाके लिये तैयारी करते समय भी उन्हें योजना बनानी चाहिये। उन्हें अपने-आपसे यह पूछना चाहिये कि कौन-कौन-सी पुस्तकें विशेष उपयोगी हैं? प्रश्नपत्रोंमें किस भागपर अधिक-से-अधिक प्रश्न आते हैं? उन प्रश्नपत्रोंका वर्गीकरण करना चाहिये। जब पढ़ने बैठे, तब उनका उत्तर एकत्रित करनेका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

अनेक विद्यार्थियोंका मन पाठ्य-पुस्तकोंपर नहीं लगता। बाहरकी पुस्तकोंपर अधिक डोलता रहता है। इससे मनोरंजन तो हो जाता है, किंतु अपने विषयका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। बाहरकी पुस्तकें पढ़ते रहनेसे दिमागको कठिन गम्भीर विषयोंके अध्ययनकी आदत नहीं रह जाती। उनको पढ़ते हुए डर-सा प्रतीत होता है। अपनी इधर-उधर भागती हुई इच्छाओंको इधर-उधरसे पकड़कर पाठ्य-पुस्तकोंपर केन्द्रित करनेकी अतीव आवश्यकता है। इच्छाशक्तिकी दृढ़ताके साथ-साथ मानसिक शक्तियाँ भी चलती हैं।

अपनी योजनामें सभी तरहकी पुस्तकोंका क्रम रखिये। एक घंटा हिसाब, अध्यात्म या राजनीति पढ़ते हैं तो उसके अनन्तर एक घंटा इतिहास, कविता या जीवनियोंका क्रम रखिये। मध्यमें कुछ देर विश्राम कीजिये और मनको थोड़ा खुला छोड़ दीजिये। यदि पढ़ते समय कोई मननयोग्य विचार प्राप्त हो जाय तो नोट करते चलिये। इन नये विचारोंपर सोचिये। यह मौलिक चिन्तन मानसिक शक्तिकी वृद्धि करता है। नोट करने और सोचनेसे संस्कार दृढ़ होते चलते हैं।

अपनी ओर देखिये

मनुष्यको व्याकुल तथा बेचैन करनेवाली मनोवृत्ति अभावरूप नहीं, भावरूप है। उसकी भावनाएँ उत्तेजित होकर उसके अन्तर्मनमें विक्षोभ उत्पन्न करती हैं। भावकी उत्तेजित अवस्था प्रायः इस कारण होती है कि दूसरे क्यों किन्हीं वस्तुओंका उपयोग कर रहे हैं, जब कि वे वस्तुएँ उनके पास नहीं हैं।

हम इसलिये दु:खी नहीं रहते कि हमारे पास अच्छा मकान, सुन्दर वस्त्र, आरामकी वस्तुएँ क्यों नहीं हैं। जो बात हमें परेशान करती है और चैन नहीं लेने देती वह यह है कि दूसरोंके पास वे वस्तुएँ क्यों हैं? वे क्यों दो मकानोंके मालिक हैं, जब कि हमारे पास एक ही है।

हमारे एक मित्र हैं जिनपर लक्ष्मीकी दया है। घरका मकान भी है। अभी कुछ दिन पूर्व कुछ साधारण स्थितिके अध्यापकोंको जमीनें मिलीं; एक छोटी-सी सहकार-समिति बनी और पारस्परिक सहायतासे उन्होंने मकान बनानेकी सोची। इन्हें जमीन न मिल सकी, दु:खी रहे। इन लोगोंसे अधिक जमीन मेरे पास रहे, अधिक अच्छा मकान बने; अधिक ज्ञान रहे—इस भावने निरन्तर उनके मनको अशान्त बनाये रखा।

स्त्रियोंमें यह प्रवृत्ति विशेषरूपसे विकसित रहती है। किसीका नया आभूषण बना कि उनके मनमें ईर्ष्याकी अग्नि लगी। हमें भी वही आभूषण चाहिये, वही नये ढंगका वस्त्र चाहिये, इस नये कटका, नये-नये डिजाइनोंका कपड़ा चाहिये, अमुककी साड़ी बड़ी सजती है, हमारे पास भी वैसी होनी चाहिये। ऐसी अनेक बातें निरन्तर उनके मनको अशान्त किये रहती हैं।

एक सज्जनकी पत्नीके यहाँ एक सुशिक्षित स्त्री मिलनेके लिये आयी। हमारे मित्रकी पत्नी निरक्षर भट्टाचार्य थीं। उनके पास कोई ऊँचा विषय बातें करनेके लिये नहीं था। घूम-फिरकर वही दो-चार विषय—पास-पड़ोसकी आलोचना, परच्छिद्रान्वेषण, गहनों, कपड़ों, सौन्दर्य-विज्ञानपर बातचीत। बातों-बातोंमें बोलीं—

धनसम्पन्न पत्नी—'आपके हाथ खाली हैं। चूड़ियाँ नहीं पहनतीं? मेरी चूड़ियाँ देखिये। आठ तोलेकी आठ बनी हैं—डिजाइन नया है। सुन्दर लगती हैं न?'

सुशिक्षित पत्नी—'आजकल चूड़ियोंका रिवाज नहीं है। यह देखिये मेरी घड़ी। एक सौ पैंतीसकी है, मेरेडिना कम्पनीकी; टाइम ठीक देती है। न तेज, न स्लो। देखिये कैसी सुन्दर है।'

धनसम्पन्न पत्नीके मनमें बात बैठ गयी। उसकी चूड़ियोंकी प्रशंसा नहीं

की गयी थी। उसके 'अहं' को चोट लगी थी। उसकी सहेलीके पास घड़ी और यह बिना घड़ी। दूसरे ही दिन उससे भी अच्छी घड़ी उनके हाथमें थी। न उन्हें टाइम देखना आता था, न ठीकसे चाबी देना ही। वे फिर भी प्रसन्न थीं। उनका 'अहं' शान्त हो चुका था। भावनाएँ शान्त थीं।

'दूसरेसे अच्छे रहें'—यह भाव मनुष्यकी अशान्ति, आन्तरिक दुःख, क्लेश और ईर्ष्याका कारण है। इससे मन बेचैन रहता है। सब कुछ होते हुए भी मनुष्य अतृप्त रहता है।

ईर्ष्या एक छूतसे फैलनेवाले रोगके सदृश जल्दीसे विकसित होनेवाला मनोभाव है। अभी आप शान्त, गम्भीर और प्रसन्न हैं। दूसरेकी कोई भी उत्तम चीज देखी कि बिखर पड़े, मन मचल गया, लगे जलने।

स्मरण रखिये, आप चाहे सब कुछ पा लें, फिर भी किसी-न-किसी वस्तुका अभाव सदैव रहेगा। अभाव मनुष्यकी भारी कमजोरी है। उत्तम व्यक्ति वही है, जो कल्पनाके मायाजाल तथा ईर्ष्या-जैसे मनोविकारके वशमें न होकर अपनी प्राप्त वस्तुओंका ही सबसे उत्तम उपयोग करता है।

स्वयं काना बनकर दूसरोंको अन्धा देखनेका उद्योग महान् अनर्थकारी है। अपने साथ ईमानदारीसे काम लीजिये।

जाकी रही भावना जैसी

एक बार एक अदालतमें एक स्त्रीने एक युवकपर मुकदमा दायर किया था और कारण यह बताया कि अमुक व्यक्ति उसको बड़े अजीब ढंगसे निहारता है। वह हत्या कर सकता है तथा अन्य कुछ हानि युवतीको पहुँचा सकता है। युवकके चरित्रकी पुलिसने छानबीन की तो ज्ञात हुआ कि वह साधारण मानसिक स्थितिवाला निर्मलचरित्र व्यक्ति था, जिससे किसी प्रकारके अपराधकी आशंका नहीं की जा सकती थी। मुकदमा खारिज कर दिया गया था।

जब उस युवतीका मनः-विश्लेषण किया गया, तब ज्ञात हुआ कि वह स्वयं

ही संदेहवृत्तिसे ग्रसित थी। वह स्वयं दूसरोंमें हत्या, भय, सतानेकी वृत्ति, चोरी, डकैती, खूँरेजी, अपवित्रता, व्यभिचार, ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिहिंसा इत्यादिकी घृणित भावनाएँ आरोपित किया करती थी। चूँकि उपर्युक्त दुर्गुण स्वयं उसकी कमजोरियाँ थीं, वह दूसरोंमें इन्हींकी प्रतिच्छाया देखा करती थी। उसे सभी लोग खराबियोंसे परिपूर्ण दुर्बल चरित्रवाले दिखायी देते थे।

दूसरोंमें हम प्राय: उन्हीं गुणोंकी परछाहीं देखते हैं, जो वास्तवमें स्वयं हमारे अन्त:करणमें गुप्तरूपसे मानसिक ग्रन्थियोंके रूपमें निवास करते हैं। यदि हम सावधानीसे अपने मन:क्षेत्रके गहन गह्वरकी परीक्षा करें तो हमें विदित हो सकता है कि हमारे गुप्त मनमें किस प्रकारके विचारोंकी भावना-ग्रन्थियाँ विनिर्मित हो चुकी हैं।

मालूम कीजिये कि दूसरों—अपने आसपासके व्यक्तियों, जान-पहचानवालों, नये व्यक्तियों, भाई-बहिनों, परिचितों, विद्यार्थियों और ग्राहकोंके विषयमें आपके मनमें कैसे विचार आते हैं। आप उनके प्रति अपने मनमें नेकी और भलाईकी बात सोचते हैं या ईर्ष्या, द्वेष, फरेबकी परछाहीं आती है? यदि वे संकटमें हों तो आप उनकी सेवा और सहायताको प्रस्तुत होंगे या हाथ झाड़कर दूर खड़े हो जायँगे? यदि वे अकेलेमें मिल जायँ तो आप उनपर प्रहार करेंगे या प्रेमके दो शब्दोंसे हँसकर उनका स्वागत करेंगे? यदि उन्हें किसी प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता हो तो क्या आप उनकी सहायताको प्रस्तुत करेंगे? इन प्रश्नोंपर निष्पक्षतासे विचार करनेपर आपको आरोपकी वृत्तिका ज्ञान हो जायगा। आपको यह मालूम करके आश्चर्य होगा कि अनेक व्यक्तियोंसे हम यों ही बिना पर्याप्त कारणके घृणा करते हैं। हम अपने दुर्गुण उनमें आरोपित कर उन्हें अपनी रुचिके अनुसार भला-बुरा बताया करते हैं। दूसरोंके चरित्रके विषयमें हमारे निर्णय सदैव हमारी गुप्त मनमें बसी हुई मान्यताओंसे संचालित होते रहते हैं।

महात्मा गाँधीजीपर दो बार घातक प्रहार हुआ था। जिस व्यक्तिने प्रथम बार उनकी हत्याका प्रयत्न किया था, उसे गाँधीजीने माफ कर दिया। वे यह समझ ही नहीं सकते थे कि कोई व्यक्ति उनके प्रति दुर्भाव रख सकता

है। चूँकि वे स्वयं सज्जन पुरुष थे, सदा-सर्वदा दूसरोंकी नेकी और भलेका ही ख्याल रखते थे।

आरोपकी प्रवृत्ति मनुष्यकी एक दुर्बलता है, जो सही विचार एवं तर्कमें बाधास्वरूप खड़ी हो जाती है। अनेक व्यक्तियोंमें यह कुछके प्रति बड़े अत्याचारका कारण बन जाती है। भारतमें भंगी, चमार, कोली, भील इत्यादि निम्न जातियोंके प्रति जो घृणा और तुच्छताओंकी भावनाएँ हैं, उनका कारण एक प्रकारसे आरोप ही है। पशुओंमें सूअरके प्रति बड़ा अत्याचार देखनेमें आता है। मुहल्लेकी टट्टियाँ, गंदगी, सड़ी-गली चीजें जिन्हें खाकर सूअर सफाईमें योग पहुँचाते हैं, उनकी ओर कोई दृष्टिपात नहीं करता। मनुष्यके संचित आरोप उनकी इस घृणाका कारण है।

अधिक विकसित होकर आरोपकी प्रवृत्ति क्रोध, ईर्ष्या, प्रतिशोध, घृणा, लोभजनित भयंकर मानसिक जटिल मानस-रोगोंमें प्रस्फुटित होती है। मनुष्यको अपने इर्द-गिर्द सभी अपने शत्रु, दुष्ट, पापी, खूनी, हत्यारे और चोर-डाकू प्रतीत होते हैं। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे सभी उसका बुरा चाहते हों, उससे प्रतिशोध लेनेको समुत्सुक हों, सदा उसीकी टीका-टिप्पणी करते हों और हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गये हों। वह स्वयं असंख्य शंकाओं, दुश्चिन्ताओं, कल्पित भय, कायरता, अन्तर्द्वन्द्व, आवेशसे उद्विग्न हो उठता है। घरमें, उद्यानमें, सभा-सोसाइटीमें, बाजारमें, कभी भी उसे मानसिक संतुलन प्राप्त नहीं होता। उसका जीवन एक विडम्बना बन जाता है!

तुलसीदासजीने भक्तोंके द्वारा भगवान् रामके दर्शनका वर्णन करते हुए एक स्थानपर निर्देश किया है—

'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'

प्रभु एक हैं, किंतु भिन्न-भिन्न रुचि, प्रकृति-स्वभाववाले भक्तोंको प्रभुकी भिन्न-भिन्न आकृति और रूप दृष्टिगोचर हुए। विद्वानोंको विद्वान्, भक्तोंको भक्त और शक्तिवालोंको वे शक्तिके अवतार दिखायी देते हैं। मूल अभिप्राय भावनाकी विभिन्नता ही है। जैसी जिसकी भावना, वैसा उसका दर्शन। यही बात संसारके विषयमें भी लागू होती है। इस त्रिगुण जगत्के अनन्त भण्डारमें

सत्, रज, तमके अनुसार अनेक प्रकारके गुण-अवगुण भरे पड़े हैं; किन्तु मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार उनकी प्रतीति करता है।

हम अंदरसे स्वयं जैसे हैं, हमारा बाह्य संसार भी वैसा ही है। जिनकी भावना भीतरसे भलाई, सचाई, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, शील, सौहार्द, वात्सल्य और सद्भावकी ओर झुकी हुई है, उसे उसके संसारमें इन्हीं दैवी गुणोंका बाहुल्य प्रतीत होता है। वह सर्वत्र उत्तम पवित्र वस्तुओंके ही दर्शन करता है। दूसरोंकी भलाईकी ओर ही देखता है। उसके संसारमें ये ही सद्गुण पुष्पित-फलित होते हैं। दुर्भावकी विषबेलि नहीं उगती। वह सर्वत्र प्रेम वितरण करता है, परिवर्तनमें वही भाव दुगुना-चौगुना प्राप्त करता है।

महात्मा ईसाको सूलीपर ले जाया गया। रुढ़िवाद तथा अज्ञानके अन्धकारमें फँसी हुई जनता उनके दिव्य दर्शनोंको समझ नहीं पा सकी थी। मृत्युसे पूर्व उनके मुखसे ये शब्द निकले—'मेरे प्रभु! इन लोगोंको क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' ईसाके इन वचनोंमें कितना मर्म भरा हुआ है! उनकी ममता, प्रेम, सहानुभूतिकी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। जनता मूर्ख है। वह धर्मका मर्म नहीं समझती। वह ईसाको धर्मका शत्रु मान बैठी है; क्योंकि उनके गुप्त मनमें हिंसा, विद्वेष, क्रोध और प्रतिशोधके भयंकर कीटाणु बैठे हुए हैं, लेकिन उदारहृदय ईसा अपनी सद्भावना फिर भी बिखेर रहा है। ईसा! तुम धन्य हो!

परच्छिद्रान्वेषण आजका प्रमुख दुर्गुण है। अमुक व्यक्ति ऐसा है, वैसा है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, ईर्ष्या, द्वेष, वैरमें फँसा हुआ है। समाजका शत्रु है। उससे इतनी हानि हो रही है। इत्यादि बातें कोई भी व्यक्ति दूसरोंके विषयमें कह देते हैं। ऐसी टीका-टिप्पणी करनेवाला व्यक्ति ये बातें उच्चारण करते हुए केवल दूसरोंके दुर्गुणोंकी ओर ही दृष्टिपात करता है, जब कि ये समस्त दुर्गुण स्वयं उसीके गुप्त-संस्कारोंमें जटिलतासे बैठे रहते हैं। वह यह नहीं सोचता कि दूसरोंकी आलोचना करनेवाला वह स्वयं कितने दुर्गुणों, पापमय संकल्पों, दुरभिसन्धि, दुर्भावनाओंका शिकार है। दीपकके नीचे स्वयं कितना अन्धकार एकत्रित है?

एक पाश्चात्त्य विचारकका कथन है कि 'यदि हमें सज्जन कहलानेवाले व्यक्तियोंके समस्त दोष प्रकट हो सकें (जो कि उनके गुप्त मन, अन्तःकरणमें छुपे रहते हैं) तो हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति इतने अंशोंमें दोषी है कि उसे फाँसीकी सजा मिल सकती है। अंदरसे हम सब नाना प्रकारके पापमय संकल्पों एवं गुप्त अनुभवोंसे भरे रहते हैं। जबतक हमारे पाप ढके रहते हैं, तबतक लोग हमें सज्जन समझते हैं। प्रकट होनेपर इन्हीं पापमय संकल्पोंके कारण हम भयंकर-से-भयंकर सजाके अधिकारी हो सकते हैं।'

इस कथनमें गहरी सत्यता है। हममेंसे सबके पास एक बड़ा जरूरी कार्य करनेके लिये मौजूद है—स्वसंस्कार अर्थात् हमें सर्वप्रथम भावनाओंकी सफाई करनी चाहिये। यह बड़ा कठिन कार्य है। इसकी सफलताके दो ही उपाय हैं—(१) आत्मनियन्त्रण, (२) दीर्घकालीन अभ्यास। प्रथम तो यह कि जब किसीके प्रति मनमें कुसंस्कार उदित हों, तब ठीक उनके विपरीत मैत्री-भावनाद्वारा दुर्भावका निराकरण किया जाय। अभ्यास ही वह साधन है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धिका उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य हो सकता है। दुर्भावोंसे युद्ध करना, उनके स्थानपर दया, प्रेम, सहानुभूतिका पालन करना हमारी साधनाका प्रधान अंग होना चाहिये। जिसने इस ओर पग उठाया है, उसने जीवनमें एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सबके प्रति सद्भाव, मित्रभाव, प्रेम, सहानुभूति, सेवा, सहायताकी मनोवृत्ति आन्तरिक शान्ति प्रदान करनेवाली अवस्था है। मैत्री-भावनाके अभ्याससे मानव दिन-रात अमित सुखका अनुभव करता है, रात्रिमें मीठी नींद सोता है; बुरे स्वप्न नहीं देखता, सबका प्रिय हो जाता है; अमानव दुष्टोंका भी प्रिय होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं; अग्नि , विष या हथियारतकसे उसे हानि नहीं पहुँचती, शीघ्र ही उसे समाधि लग जाती है, उसका आकार सदा प्रसन्न रहता है और बिना किसी अन्तर्द्वन्द्वके वह मृत्युको प्राप्त होता है। एवं यदि मृत्युकालमें यही भावना रही तो वह श्रेष्ठ लोकमें जन्म लेता है।

सबसे मित्रता, सबका कल्याण, सबकी भलाई और प्रेमकी भावनासे जब मानवका अन्तःकरण परिष्कृत हो उठता है, तब उसके शुभ-भावोंकी विद्युत् तरंगें समीपके वातावरणको भी विशुद्धता, पवित्रतासे भर देती हैं। जब हम

दूसरोंका भला चाहते हैं, तब हम सबको प्रेममय, मित्र, सखाके रूपमें देखने लगते हैं। किसीके प्रति दुर्भाव, ईर्ष्या, द्वेषका होना ही अशान्त, ईर्ष्यामय अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण जीवन बिताना है। सद्भावना न केवल कर्ताको सुख-शान्ति प्रदान करती है वरं समीपके व्यक्तियोंमें भी उसी भावको विस्तृत कर स्वार्थ, दुष्कर्म एवं संकुचिततासे मुक्त करती है।

सही विचारकी बाधाएँ

आप जो सोचते-विचारते या दूसरोंके विषयमें निर्णय करते हैं, क्या वह वस्तुतः सत्य है? आपका मन स्वयं अपने या दूसरोंके विषयमें जो निर्णय करता है, आप जिन निष्कर्षोंपर आते हैं, क्या वे सत्य हैं? आपकी धारणाओंमें क्या कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं? ये ऐसे प्रश्न हैं, जो गम्भीर विचार करनेपर मनमें उदित होते हैं।

नब्बे प्रतिशत व्यक्तियोंके विचार, चिन्तन या निष्कर्ष प्रायः गलत होते हैं। उनके चिन्तनके मार्गमें अनेक ऐसी बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जो अनजानमें ही चुपचाप उनकी विचारधाराओंको प्रभावित किया करती हैं। ये त्रुटियाँ गुप्तरूपसे परिवर्तित होती रहती हैं तथा जटिल होकर गुप्त मनमें भावना-ग्रन्थियोंके रूपमें निवास करने लगती हैं। सही विचार न करनेके कारण मनुष्य समाजमें तिरस्कृत एवं अपमानित होता है। जनता उसका मान नहीं करती; उससे किसी भी गम्भीर विषयमें सलाह नहीं ली जाती। प्राचीन कालमें यूनानियोंमें दार्शनिकों तथा भारतमें ऋषि-मुनियोंसे महान् समस्याओंपर विचार-विमर्श किया जाता था। उसका कारण यही था कि वे सही विचार करते थे; उनका दृष्टिकोण विस्तृत था; बाधाएँ उनमें अपेक्षाकृत कम थीं।

सही विचारकी पहली बाधा भाग्यवाद है। 'जो कुछ भाग्यमें निर्दिष्ट है वही होता है, हमारे किये कुछ न होगा, हम क्यों प्रयत्न करें, क्यों इतना झंझट मोल लें? कार्य भी क्यों करें जब नियतिका कुटिल चक्र हमारे भाग्यका निर्णय कर

रहा है।'—भाग्यवादियोंके ये तर्क अनुपयुक्त हैं। इनके कारण मनुष्य अपनेको डरपोक समझता है और शुद्ध निर्णय नहीं कर पाता।

दूसरी बाधा साम्प्रदायिकता है। 'अमुक व्यक्ति दूसरे धर्मका है, अतः उसके साथ दूसरी तरहका व्यवहार होना चाहिये। अमुक मेरे धर्म या प्रान्तका है। अतः उसकी अनुचित सहायता भी मुझे करनी ही चाहिये'—ऐसे विचार हमारे न्याय करनेमें बाधक होते हैं। किसी भी प्रकारकी साम्प्रदायिकता न्यायमें बाधक नहीं होनी चाहिये। सभी हमारे हैं, हम सभीके प्रति कर्तव्यकी पूर्ति करते रहेंगे। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी, जैन सभीमें एक ही आत्माका निवास है। सभी हमारे आत्मस्वरूप बन्धु, हितैषी और प्रेमपात्र हैं। हमारा किसीसे कोई वैर-विरोध नहीं है—इस प्रकारके विचार मनुष्यको सत्य, न्याय और अहिंसाके मार्गपर रखते हैं।

तीसरी बाधा अतिभावुकता है। दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, कृपा इत्यादि एक मर्यादातक ही उचित हैं। यदि ये मर्यादाके बाहर चले जायँ तो मनुष्य विवेक नहीं कर पाता। हमें अमुकका विशेष ध्यान रखना चाहिये; क्योंकि वह हमारा कुटुम्बी, पुत्र, पुत्री या नातेदार है। अमुकने कसूर किया है, पर फिर भी वह हमारी दयाका पात्र है, उसे माफ कर ही देना चाहिये। अमुकपर हमें रहम आता है, अपना सब कुछ इसे दान दे डालना चाहिये या महान् अपराध करनेपर भी उसे सजा नहीं मिलनी चाहिये—अति भावुकताजन्य ये मान्यताएँ मनुष्यके सत्य, न्याय और कर्तव्यके मार्गमें आकर खड़ी हो जाती हैं और उसे आगे नहीं बढ़ने देतीं। भावुकताके कारण मनुष्यका विवेक तथा बुद्धि दब जाती है और वह सही निर्णय नहीं कर पाता।

चौथी बाधा उत्तेजना है। क्रोध, भय, काम, वैर आदि क्षणिक आवेश मनुष्यको अंधा बना देते हैं। इन मनोविकारोंकी उत्तेजनामें विवेक पंगु हो जाता है। नीर-क्षीरकी भावना विलीन हो जाती है। न्यायके स्थानपर मनुष्य प्रतिशोधकी भावनासे उत्तेजित हो जाता है। उत्तेजनाएँ एक प्रकारका उन्माद है, जिसमें मनुष्यका विवेक स्थिर नहीं रहता और वह विचार-निर्माणमें गलतियाँ कर बैठता है। शान्त होनेपर उसे अपनी उत्तेजनाओंकी मूर्खताएँ प्रतीत होती हैं।

पाँचवीं बाधा पलायनवादकी है। 'यह कष्टसाध्य कार्य है। इसे करनेमें

पर्याप्त श्रम तथा कष्ट होगा। कौन व्यर्थके झंझटमें पड़कर आफत मोल ले या माथा-पच्ची करे, चलो इसे छोड़ दें। सरल कार्य कर डालें।' इस प्रकारके व्यक्ति पलायनवृत्तिके हैं, जो कठिन संघर्षपूर्ण, जटिल कार्यों या विषयोंसे भागते या पलायन करते हैं। पलायनवादी झगड़ालू, दम्भी या उत्साहपूर्ण व्यक्तियोंसे भयभीत होता है। उसके चित्तमें एकाग्रता नहीं होती; उसका मन क्षण-क्षणमें तितलीकी तरह इधर-उधर भागता रहता है। उसमें स्थिरता, एकनिष्ठा, स्वयं अपनी बातपर डटे रहना, चरित्रकी निष्ठा, विचारोंकी गहराई, स्वयं विचार करनेकी योग्यता, मौलिकता इत्यादि सद्गुण नहीं होते। पलायनवृत्ति मनुष्यको एकनिष्ठ विवेकशील, दृढ़ी नहीं बनने देती। वस्तुतः प्रत्येक सही विचारवाले व्यक्तिको इस वृत्तिका परित्याग कर देना चाहिये।

छठी बाधा कल्पनाकी अतिशयता है। अपनी ही कल्पनामें मस्त रहनेवाला व्यक्ति सबको उसी रंगमें देखता है जैसे स्वयं उसकी अपनी भावना होती है। हवाई किलोंमें निरत रहना, काल्पनिक जगत्‌में निरन्तर विचरण करना तथा पार्थिव जगत्‌के उत्तरदायित्व; कठोर संघर्ष, कर्म इत्यादिका दृष्टिमें न रखना मनुष्यको शेखचिल्ली बना देता है। ऐसे व्यक्ति बड़ी लंबी-चौड़ी बातें बनाते हैं; बड़े-बड़े वादे करते हैं; उनकी कागजी योजनाओंका पार नहीं, किन्तु जब सांसारिक मजबूरियाँ उनके समक्ष आती हैं तब उन्हें काल्पनिक जगत्‌का मिथ्यात्व मालूम होता है।

सातवीं बाधा आत्महीनता या आत्माभिमानिता है। आत्महीन व्यक्ति अपने-आपको नीचा समझता है, जब कि आत्माभिमानी अपने बराबर किसी दूसरेको नहीं समझता। एकको अपनी शक्तियोंमें अविश्वास होता है, दूसरेको अनुचित विश्वास और मद। मदमस्त या आत्महीन व्यक्ति क्या न्याय करेगा।

इसके अतिरिक्त देश-काल-परिस्थितिकी अज्ञानता, शक्तिसे अधिक कार्य अपने ऊपर ले लेना, जानकारीकी कमी और कानूनसे अज्ञानता मनुष्यको सही विचार-निर्माण करनेमें बाधास्वरूप उपस्थित होती हैं। मनुष्यको चाहिये कि यथासम्भव इनसे दूर रहे और नीर-क्षीर-विवेक विकसित करे। बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय—को समक्ष रखकर हमें कार्यमें अग्रसर होना चाहिये।

अपने सिद्धान्तोंको व्यावहारिक रूप दीजिये

आपके विचारके दो पक्ष हैं—एक काल्पनिक तथा दूसरा क्रियात्मक। आप किसी आदर्शविशेषको मनमें पानेकी इच्छा रखते हैं, उसकी प्राप्तिके लिये बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं और आपने अपना आदर्श भी सच्चे संकल्पसे स्थिर किया है; किंतु खेदका विषय है कि आपकी ये सद्भावनाएँ पानीके बुलबुलोंके समान मनकी मनमें ही शान्त हो जाती हैं। और यह है कि आप जीवनके काल्पनिक बाजूपर तो विशेष ध्यान रखते हैं, किंतु उसके क्रियात्मक (Practical) स्वरूपकी ओरसे वीतराग हो जाते हैं। अपने सद्विचारोंको नित्यप्रतिके व्यवहारमें न लानेके कारण ही आपको पूर्ण सफलता नहीं मिल रही है।

जिस प्रकार आमको बिना खाये, रखे रहनेसे उसका स्वाद नहीं मालूम होता, हथियारको खरीदकर रख लेनेसे उसका चमत्कार प्रतीत नहीं होता, दवाईका बिना सेवन किये उसका लाभ नहीं दीखता, उसी प्रकार शिक्षा और ज्ञानका व्यवहार हुए बिना कुछ उपयोग नहीं है।

संसारमें बड़े काम अपने सिद्धान्तोंको प्रयोगमें लानेसे ही सम्पन्न हुआ करते हैं। काल्पनिक बौद्धिक विचारके साथ क्रियात्मक स्वरूपके उत्तम सामंजस्यसे ही विचार समूचा बनता है तथा उसमें पूर्ण उत्पादक शक्तिका समावेश होता है। अभिलाषाएँ, विचार, योजनाएँ तबतक उत्पादक नहीं बन सकतीं, जबतक वे मनुष्यकी क्रियाके रूपमें परिवर्तित न कर दी जायँ। विचारका क्रिया (Action)-के साथ सम्मेलन होनेसे उत्पादक बलका प्रादुर्भाव होता है। पठन-पाठन और वाचनका ज्ञान चाहे वह कितना भी अधिक क्यों न हो, अन्ततः पुस्तकमें ही रह जायगा। छटाँकभर क्रियात्मक ज्ञान, सेरभर पण्डिताईसे बहुत श्रेष्ठ है।

आपका धर्म व्यावहारिक होना चाहिये। धर्म पुस्तकोंके अंदर पड़ी रहनेवाली मूक चीज नहीं है; वह कोरे पूजा-पाठ या सोचने-विचारनेमात्रकी वस्तु नहीं है; धर्म कल्पनाका सुनहरा महल नहीं है; धर्म तो व्यावहारिक रूपसे नित्यप्रतिके जीवनमें उतारनेकी चीज है। धर्म दैनिक उपयोगमें लाने, पग-पगपर काममें लेनेकी वस्तु है। जो व्यावहारिक रूपसे आपने काममें ले लिया, वही वास्तविक धर्म है।

'धर्म' शब्द 'धृञ्—धारणे' धातुसे निर्मित होता है, जिससे स्पष्ट है कि जो सिद्धान्त व्यावहारिक रूपसे काममें लाये जायँ, वे ही धर्म हैं। धर्म हर मनुष्यके दैनिक जीवनमें, नित्य हर घड़ी उपयोगमें आनेवाला तत्त्व है। उसे हर घड़ी काममें लेनेके लिये प्रस्तुत रहिये। अपने उद्देश्योंको कार्योंद्वारा प्रत्यक्ष करते रहिये।

महात्मा गाँधीजीका कथन है कि जिस धर्मका हमारे दैनिक आचार-व्यवहारपर कुछ भी प्रभाव न पड़े, वह एक हवाई किलेके अतिरिक्त कुछ नहीं है। मैं तो धर्मको ऐसी ही आवश्यक वस्तु समझता हूँ जैसे अन्न, जल और वायु। नशेबाजोंको जैसे अपने नशेकी चीजोंका ध्यान रहता है, तलब उठती है और उन्हें पानेके लिये वे हर सम्भव उपायको काममें लाते हैं, उसी प्रकार धर्म-कार्योंकी ऐसी चाट और तलब मनुष्यके कलेजेमें उठनी चाहिये कि आजके कार्योंमें अधिक-से-अधिक धर्मके तत्त्वोंका समन्वय हो।

अनेक अस्थिर एवं चंचल प्रकृतिके व्यक्ति बड़े उत्कृष्ट आदर्शोंको लेकर निकलते हैं और बहुत कुछ करनेकी इच्छा रखते हैं, किंतु वे सम्पूर्ण मन, वचन और कायाके साथ अपने विचारोंको कार्यरूपमें परिणत नहीं कर पाते। जिस मूल्यद्वारा किसी कार्यमें सफलता प्राप्त होती है, उस मूल्य अर्थात्—ठोस कर्म, परिश्रम, उद्योग, क्रियाशीलताको दिये बिना ही वे इच्छित पदार्थको पाना चाहते हैं और फलतः असफल रहते हैं।

धर्म काल्पनिक नहीं, व्यावहारिक होना चाहिये। अपने विचारोंको कर्ममें उतारिये।

मनमाना आनन्द मिलेगा

स्मरण रखिये कि प्रत्येक बीज, जो आप देखते हैं अपने अन्तस्तलमें एक महान् वृक्ष छिपाये है। उसके द्वारा जगत्की कुछ भलाई, कुछ सेवा, कुछ नयी सृष्टिकी योजना अवश्य होगी! गेहूँका एक दाना लीजिये। परमेश्वरने उसमें कुछ ऐसी गुप्त योजनाएँ संचित की हैं, जिनसे वह एक क्षुद्र बीजसे परिपूर्ण पौधा बन सकता है। पत्तियाँ, डंठल और गेहूँके असंख्य दाने उस एक बीजके

सीधा चला जाता है और पूर्ण ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है। अतः जीवनमें पूर्ण आध्यात्मिक आनन्द उठानेके लिये हमें अपनी इच्छाओंका भेद करने, इन्द्रियोंका दमन करने और वासनाओंकी आहुति देनेके लिये सदैव प्रस्तुत रहना चाहिये। इन्द्रियसुखकी अपेक्षा इन्द्रियनिरोधमें अधिक सुख है। हम अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखेंगे और अविरोध इधर-उधर अनियन्त्रित बढ़ने देंगे तो मानो अपनेको जान-बूझकर दुःख-सागरमें डालेंगे। इन्द्रियोंके विषयोंमें अथवा भोग-विलासमें सुख नहीं है। अमरत्वका यह सागर आपके भीतर है। स्वर्गका सुखमय राज्य आपके अंदर है, उसमें विचरिये! मनमाना आनन्द मिलेगा!!

अपने विषयमें अशुभ-चिन्तन न कीजिये

ऐसे अनेक व्यक्ति मेरे देखनेमें आये हैं जो इसी कारण सदैव अस्वस्थ रहा करते हैं; क्योंकि वे हदसे अधिक अपने विषयमें अहितकर चिन्तन किया करते हैं। अहितका चिन्तन करना, निराश रहना, अपने भविष्यके विषयमें बुरी बातोंकी कल्पना करना और शोक-विषादमें डूबे रहना एक मानसिक व्याधि है। इस व्याधिकी जड़ें रोगीके अन्तःप्रदेशमें होती हैं। जरा-जरा-सी व्याधिको बढ़ा-बढ़ाकर दिखाना या उन मामूली बीमारियोंके जरिये भयानक व्याधियोंके मौजूद होनेका संदेह करना, उन व्यक्तियोंके स्वभावका एक विशिष्ट अंग हो जाता है। मामूली दर्दमें ही हाय-हायकर ये तिलको ताड़ बना देते हैं।

यदि इन चिन्तन-प्रधान रोगियोंका मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis) करें, तो आपको ज्ञात होगा कि ये चिन्ता, भय, शंका, बहम, अस्थिरता, अधिक औत्सुक्य इत्यादि व्याधियोंके अड्डे हैं। इन्हें विशेषरूपसे तो यह भय रहता है कि हम कहीं बीमार न हो जायँ, हमें कोई असामान्य रोग न हो जाय। इनमें निश्चयबल अत्यन्त कम होता है। धारणा-शक्ति क्षीण होकर शून्यको पहुँच जाती है। अत्यधिक चिन्तनका कारण अन्तःकरणमें दबी हुई भयकी टीसकी अभिव्यक्ति है। दबी हुई भावनाएँ जरा-सा प्रोत्साहन पाकर अनेक छोटी-मोटी शंकाओंसे सम्मिश्रित हो मनके ऊपरी स्तरपर उद्भूत होती हैं। चिन्तन उस भयका रूपान्तरित रूप है। वास्तविक भय अव्यक्त

प्रदेश(Unconscious)-में छिपा रहता है। यही छिपी हुई भावना रोगरूपमें अभिव्यक्त होती है तथा अनेक मानसिक रोगोंका कारण बनती है।

अशुभ-चिन्तन मानसिक दौर्बल्यका प्रतीक है, कष्ट और क्लेशोंको निमन्त्रण है, इससे मनकी कार्य करनेवाली शक्तियाँ विनष्ट होती हैं, मनुष्यका उत्साह मारा जाता है, आशावादिता नष्ट होती है और वह कोई भी उत्कृष्ट कार्य नहीं कर पाता।

मनुष्यको चाहिये कि वह सदा-सर्वदा आशासे भरा रहे, अपनी आध्यात्मिक सम्पदाओंकी अभिवृद्धि करता रहे, परमेश्वरके दिव्यानन्दमें गोते लगाता रहे तथा आनेवाली आपदाओंको प्रसन्नतासे झेले। त्रस्त न हो।

आशावादिता वह महौषधि है, जो त्रिविध रोगोंको विनष्ट करती तथा मनुष्यको दैवी तेजसे पूरित करती है। इससे मनुष्यके अनेक संशय दूर होते हैं तथा आन्तरिक प्रकाश होता है। मनुष्यका धर्म है कि वह केवल शुभ सोचे तथा शुभका ही प्रसार करे।

सोनेकी हथकड़ी-बेड़ियोंसे अपनी आत्माको न बाँधिये

अपने स्वाभाविकरूपमें मानवात्मा पूर्ण निर्विकार, निर्लेप, शुद्ध-बुद्ध है; उसमें स्थायी सुख, समृद्धि, सौजन्य तथा प्रेम है। आत्म-प्रधान व्यक्तिमें किसी प्रकारका सीमाबन्धन नहीं है; किसी प्रकारकी संकुचितता उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकती। बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही रूपोंमें वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है।

यदि हमें उच्च तथा उदार मानवका निर्माण करना है, तो सर्वप्रथम हमें आन्तरिक स्वतन्त्रतासे चलना होगा। स्वतन्त्रताका प्रारम्भ अन्तरके शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेसे हो सकेगा। हमारे अन्त:करणमें जो शत्रु हैं—काम, क्रोध, मोह, लोभ, हिंसा, द्वेष, स्वार्थ—उन्हींके दमनसे स्वतन्त्रताका प्रारम्भ होना चाहिये। आज सब स्थानोंपर आसुरी सम्पदाका राज्य है। आसुरी सम्पदाके विषयमें गीताजीमें निर्देश किया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
(१६। ४)

अर्थात् दम्भ, अभिमान, घमंड, क्रोध, कठोर वाणी तथा अज्ञान—ये सब आसुरी सम्पदाके चिह्न हैं। ये ही हमारी अवनति तथा परतन्त्रताके मूल कारण हैं। स्वार्थ तथा लोभने हमारी आत्माको बन्धनमें डाल दिया है। फलतः हम दुःखी हैं।

आपकी आत्मा सर्वथा पवित्र है। वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। उसमें किसी प्रकारका दोष स्वभावसे नहीं है। कोई उसे बन्धनमें नहीं डाल सकता। उसमें प्राचुर्य, समृद्धि एवं पवित्रता है। अपने स्वार्थवश आप उस प्रचुरतामें दुर्भिक्ष डालते हैं, क्या यह न्याय है? क्या यह सफलता है? जहाँ प्रचुरता हो, वहाँ दुर्भिक्ष डालना—यही स्वार्थपूर्ण अज्ञान आपका शत्रु है। हमने स्वयं अपनी आत्माको अन्धकारमय बना लिया है।

आप अपनेको शरीर मानते हैं। इच्छाओं, वासनाओं तथा कामनाओंकी गठरी मानते हैं, यही कारण है कि आप दुःखी हैं। वास्तवमें आप वह शक्ति हैं, जो बुद्धि और मनके परे है। आप वह सत्ता हैं, जो सम्पूर्ण विश्वमें शासन कर रही है। वही अज्ञेय, वही तेज, शक्ति-तत्त्व; जो जी चाहे कहें, वही दैवी-आत्मा सम्पूर्ण है, वही आप हैं; उसीका प्रत्यक्ष कीजिये। उसीको अपने कार्योंद्वारा स्पष्ट कीजिये।

दुर्भावपूर्ण भावनाओंको इस प्रकार जीत लीजिये

'जो व्यक्ति अपना सर्वस्व लूटनेवाले छः डाकुओंपर पहले विजय प्राप्त नहीं कर लेते और समझते हैं कि हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है, वे मूर्ख हैं। वस्तुतः जिस ज्ञानी और जितेन्द्रिय महात्माको समस्त प्राणियोंके प्रति समता प्राप्त हो जाती है, उसीके अज्ञानजनित शत्रु मरते हैं। फिर उसके बाहरके शत्रु तो रहें ही कहाँसे?'—प्रह्लाद

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—ये मनुष्यके छः भीतरी शत्रु हैं। दूसरे शब्दोंमें ये मनुष्यकी मौलिक कमजोरियाँ हैं। जब मनुष्य इन भावनाओंके वशमें होता है, तब वह प्रत्यक्ष राक्षस-तुल्य बन जाता है। उसकी विवेक-बुद्धि उत्तेजनासे आक्रान्त हो जाती है। इन मनोविकारोंके क्षणिक आवेशमें प्रायः लोग ऐसे मूर्खतापूर्ण जघन्य कार्य कर बैठते हैं, जिनके लिये उन्हें सदा आत्मग्लानिका अनुभव होता रहता है!

इन दुर्भावनाओंको जीतनेके लिये दृढ़ निश्चय, आस्तिक भाव तथा अभ्यासकी अतीव आवश्यकता होती है। जबतक हम इन्हें जीत नहीं लेते, तबतक आन्तरिक शान्ति और सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता। जिस व्यक्तिने जितने अनुपातमें मनोविकारोंका नियन्त्रण कर लिया है, वह उतने ही अंशोंमें विकसित आत्मा है।

कामभावपर विजय

कामको जीतनेके लिये हमें उसके ठीक विरोधी भावको विकसित करनेकी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने इसके लिये हमें '**मातृवत्परदारेषु**' का उपदेश दिया है। अर्थात् हमें चाहिये कि समस्त स्त्री-जातिको माताके रूपमें देखें, बरतें तथा तदनुकूल निज आचरण करें।

कामवासना अनेक व्यक्तियोंके अन्तर्मनमें प्रविष्ट हो जाती है। यह अतृप्ति भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर आचरणको दूषित करती है। कामवासनाको उच्च कलाओं, साहित्यके अध्ययन, मनन, पूजन, कीर्तन तथा स्वाध्यायमें परिवर्तित कर देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हम अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको उच्च विषयोंके अध्ययन, ललित कलाओंके अभ्यासमें इतना तन्मय कर दें कि हमारा सांस्कृतिक विकास ऊँचा हो, हम उच्च आध्यात्मिक विषयोंमें निरत रहें।

भ्रमण, प्राकृतिक दृश्योंका निरीक्षण, पुष्पोंके प्रति प्रेम, गोसेवा इत्यादिमें हम निम्न वासनाओंको विस्मृत कर सकते हैं। हमें चाहिये कि समाज-सेवाके किसी पुण्यकार्यको अपने जीवनका उद्देश्य बना लें और निरन्तर अपनी निम्न वृत्तियोंको उच्च उद्देश्योंमें विलीन करते रहें।

कामवासनाके दमनका मार्ग मानसिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकर बताया जाता है। पर ऊपर इसके उदात्तीकरण (Sublimation)-का जो मार्ग निर्देश किया गया है, वह स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हितकर है।

वासनाको उद्दीप्त करनेवाले सिनेमा, नाटक, गंदे गीत, गंदी पुस्तकें, अश्लील चित्र, स्त्रियोंका संसर्ग, गुप्त स्त्रीचिन्तन, वासना उत्पन्न करनेवाली कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, गंदा साहित्य आदि प्रत्यक्ष विष-तुल्य हैं। इनसे सर्वथा सदा दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

वासना एक आँधी और तूफान है। इसके वशमें होनेसे मनुष्यकी शक्तिका ह्रास होता है। मनकी सरल शान्तवृत्ति—जिसमें बुद्धि, विवेक, सद्विचार ठीक रहते हैं, मानसिक स्वास्थ्यके लिये उपकारी है।

क्रोधपर विजय

क्रोधको वशमें करनेका यह उपाय है कि उसे एक प्रकारका पागलपन (उत्तेजना) समझा जाय। जब हम क्रोधको आवेश समझते हैं, तब यह भी स्पष्ट है कि उस पागलपनमें कोई काम तुरंत कर बैठना भी भारी मूर्खता ही होगी। क्रोध जब शान्त हो जाता है, तब विदित होता है कि हम क्या-क्या मूर्खतापूर्ण कार्य करने चले थे? क्रोधको शान्ति, सौजन्य, सहानुभूति, प्रेम, उदारता इत्यादि उपकारी भावोंको विकसितकर परास्त करना चाहिये। शान्तिका विकास करनेके लिये मनुष्यको अन्तर्मनमेंसे विपरीत संघर्षपूर्ण विचार, ईर्ष्याकी भावनाएँ, दुश्चिन्ताएँ निकालकर मैत्रीभावकी वृद्धि करनी चाहिये। 'जगत्‌में सब हमारे मित्र हैं। हमारा किसीसे कोई विरोध नहीं है। हम सबसे प्रेम करते हैं। इस भावनाकी वृद्धि करनेसे क्रोधकी उत्तेजना विलुप्त हो जाती है।

लोभपर विजय

लोभको परास्त करनेका अस्त्र संतोषवृत्ति धारण करना है। शास्त्रकारोंने इस सम्बन्धमें जो सुझाव उपस्थित किया है वह है—**'परद्रव्येषु लोष्टवत्'** अर्थात् पराये धनको मिट्टीके समान समझना। हमें यह भलीभाँति मनमें सोच लेना चाहिये कि अन्याय और अधर्मका धन कभी नहीं टिकता। हरामका पैसा हराममें ही जाता है। जितने पैसेकी आपको अपनी शक्ति, समृद्धि, सादगी

और सचाईसे रहनेके लिये आवश्यकता है, उसके अतिरिक्त केवल पूँजीपति बननेके लिये कभी पैसा मत संग्रह कीजिये।

मोहका दमन

मोहका अर्थ है—जरा-जरा-सी वस्तुके लिये आसक्तिका भाव। मोहयुक्त व्यक्ति अपने फटे-चिथड़े, टूटे-फूटे बरतन, कूड़ा-करकट, व्यर्थकी अनुपयोगी वस्तुओंतकसे अनुचित लगाव रखता है। इस वृत्तिको छोड़नेके लिये आवश्यक है कि मनुष्य शास्त्रोंका अध्ययन कर वैराग्यवृत्ति धारण करे।

तनिक विचार कीजिये, यदि आप क्षुद्र सांसारिक वस्तुओंके व्यर्थ मोहमें, सांसारिक ऐश्वर्य, सुख, वासनातृप्ति या लालचमें पड़े रहेंगे, तो किस प्रकार आत्मा-जैसे दिव्य तत्त्वकी प्रतीति कर सकेंगे? धन, जन, मकान, आलीशान बाग, जमीन-जायदाद—प्रत्येक वस्तु आपसे दूर होनेवाली है। नश्वर संसारमें आपका किसीपर भी अधिकार नहीं हो सकता। आपका लगाव कुछ वस्तुओंसे अल्पकालके लिये हो गया है। पर संसारके नश्वर पदार्थोंके मोहजालमें अपने उच्च आध्यात्मिक जीवनको विस्मृत करना भारी मूर्खता है।

संसारके बड़े-बड़े योगी, संन्यासी, विद्वानोंके विचारोंका सार तत्त्व यही है कि तृष्णाको छोड़ दिया जाय और वैराग्यद्वारा आत्मशक्तिका विकास किया जाय। जगत्‌के मोहजालमें अपने बहुमूल्य आध्यात्मिक जीवनको भूलना बड़ा अत्याचार करना है। हमें सच्ची शान्ति प्राप्त करनी है तो छोटी चीजोंको नीचे छोड़कर ऊपर उठना होगा। शान्तिका मूल्य है—मोहवृत्तिका परित्याग और आध्यात्मिक सत्-सम्पत्तियोंको एकत्र करना।

मदको पछाड़ दीजिये

मद अर्थात् घमंडपर विजय प्राप्त करनेके लिये विनयको धारण करना चाहिये। घमंडमें क्या धरा है, बड़े-बड़े व्यक्तियोंका घमंड चूर्ण हो चुका है। धन, शक्ति, विद्या, सौन्दर्य इत्यादिके प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें बड़े-बड़े व्यक्ति पड़े हैं। हम इन वस्तुओंका मद क्यों करें? ये अस्थायी हैं। धन आज आपके पास है तो कल किसी अन्यके पास। लक्ष्मीका तो स्वभाव ही चंचल है। शक्ति

शरीरका एक गुण है, जब शरीरके विषयमें ही हमें पता नहीं, तब शक्तिके विषयमें कौन कह सकता है; रहे, न रहे। विद्याका मद विनाशकारी है। ऐसा व्यक्ति भविष्यमें अपनी बौद्धिक प्रगति नहीं कर पाता।

सौन्दर्यका मद अनेक अनर्थकारी बातोंको उत्पन्न करनेवाला शत्रु है। सुन्दर व्यक्ति बाहरसे बने-ठने चिकने-चुपड़े अवश्य रहते हैं, पर प्रायः देखा गया है कि उन्हें बुद्धि, विद्या या सांसारिक ज्ञानका विवेक नहीं होता। बड़ी-बड़ी प्रख्यात अभिनेत्रियाँ बाह्य दृष्टिसे मोहक होनेपर भी नैतिक दृष्टिसे सर्वथा निन्द्य होती हैं।

शक्तिका घमंड व्यर्थ है। संसारमें ऐसे-ऐसे शक्तिशाली विद्वान् पड़े हैं कि उनकी हम कोई बराबरी नहीं कर सकते। यदि हम शक्तिशाली हैं, तो हमारी शक्ति दूसरोंकी सेवा और सहायतामें ही लगनी चाहिये। हम दूसरोंको निरन्तर आगे बढ़ायें, प्रोत्साहन प्रदान करें; तभी हमारी शक्तिका कुछ मूल्य हो सकता है।

समता अर्थात् सबसे बराबरीका आत्मभाव रखना एक उत्तम आध्यात्मिक गुण है। उसके पालन करनेसे प्रेम उत्पन्न होता है। समता समस्त सिद्धियोंकी जननी है। जिसके हृदयमें सदा समता विराजती है, वही पुरुष सम्पूर्ण लोकोंमें श्रेष्ठ, योगियोंमें गणना करनेयोग्य और आदर्श होता है। जो सदा इसी प्रकारका व्यवहार करता है, वह अपनी अनेकों पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। समताभावकी वृद्धिसे पुरुषमें सत्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, धीरता, स्थिरता, आलस्यहीनता आदि गुणोंकी स्वाभाविक वृद्धि होती है। उसके देहके भीतर साक्षात् श्रीविष्णु विराजमान रहते हैं।

मत्सरको भी जीतना है

मत्सर या डाह सर्वथा त्याज्य है। इसकी अग्नि अंदर-ही-अंदर मनुष्यको दग्ध करती रहती है। इसपर विजय प्राप्त करनेके लिये 'आदमी अपनी शक्ति एवं परिस्थितिके अनुसार उन्नति करता है'—इस भावके विकसित करनेकी आवश्यकता है। हमें दूसरेसे जलनेसे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है। हम क्यों दूसरोंकी उन्नति, समृद्धि, सुख-सुविधा, आलीशान मकान, पोशाक या बौद्धिक उन्नति देखकर जलें?

चित्तमें मत्सर उत्पन्न करनेवाली विचार-तरंगोंकी गति वक्राकार होती है। द्वेषका प्रत्येक विचार ऐसे ही कलुषित भावोंका एक वातावरण अपने चारों ओर बनाता है। विचार-शास्त्रका यह नियम है कि मानव-मनसे कोई भी विचार-तरंग निकलकर पूरा मण्डल (सरकिल) बनाकर पुनः उसी मनमें वापस आकर प्रवेश कर जाती है। यदि आपके हृदयमें किसीके प्रति द्वेषका भाव है, तो उस घातक भावको तुरंत निकाल डालना चाहिये, अन्यथा वह आपको हानि पहुँचायेगा।

हमें चाहिये कि निज पुरुषार्थभावको विकसित करें। हमारा मार्ग ईर्ष्या और कटुताका नहीं, वरं गति, प्रगति, विकासका होना चाहिये; हमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ना चाहिये।

यदि हमारे अन्तःकरणमें किसीके लिये प्रेम, सहानुभूति, दया और आदरके भाव उत्पन्न होंगे, तो वे दूसरोंके हृदयसे टकराकर हमारे हृदयमें पुनः प्रवेश करेंगे। ऐसे शुभ विचारोंका भी एक मण्डल बन जायगा। यदि आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाय, तो हृदयकी तिजोरीमें सामर्थ्य, समृद्धि, शान्तिके रत्न रखने चाहिये। ये रत्न अधिकाधिक अभिवृद्धिको प्राप्त होंगे। यदि आप दूसरोंमें इन्हीं शुभ-सात्त्विक भावोंका दर्शन करेंगे, तो आपके चरित्रमें भी इनका निश्चय ही विकास होगा।

श्रीरूपनारायणजी पाण्डेयने इन दुर्भावनाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी उपयोगी सम्मति प्रदान की है। उनका कथन है, 'कोई शायद यह कहे कि बुराई करनेवालेके साथ बुरा व्यवहार क्यों न किया जाय! मैं कहूँगा, यह तर्क ठीक नहीं है। यदि कोई हमारे साथ बुरा व्यवहार करता है, तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो वह जाहिल, मूर्ख या गँवार है; या दुष्ट प्रकृतिका व्यक्ति है। यदि वह मूर्ख है, तो हम उसका अनुकरण करके क्यों मूर्ख बनें? उसका कार्य तो अपने पाँवमें कुल्हाड़ी मारनेके समान है। वह दूसरेकी राहमें काँटे बिछाकर अपना ही मार्ग कण्टकाकीर्ण करता है। अगर हम समझदार होकर उसके साथ 'जैसा-का-तैसा' की नीतिका व्यवहार करें, तो हमारे ज्ञान और उसकी मूर्खतामें क्या अन्तर रहा? इसलिये हमें अपने भाईकी

मूर्खतापर ध्यान न देकर स्नेह और प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये। दो-चार बार प्रेम-दर्शन करनेपर बहुत सम्भव है, वह अपनी मूर्खताका अनुभव कर लज्जित हो और हमारा हितैषी मित्र बन जाय, किंतु यदि हम उससे बदला लेनेपर उतर आयेंगे, तो सर्वप्रथम तो हमारी आत्माका पतन होगा। इसके अतिरिक्त वैर, विरोध तथा क्रोध बढ़ता रहेगा, जिससे ऐहिक अनर्थ भी थोड़ा न होगा। और यदि हमारा अपकार करनेवाला मनुष्य दुष्ट प्रकृतिका है, तब तो हमें कदापि उस-जैसा नहीं बनना चाहिये।'

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारका स्वरूप

हमारे मनके चमत्कार

मन मानव-जीवनकी सूक्ष्मतम शक्तियोंका स्थूलस्वरूप, अन्तःप्रकाशका ज्योतिर्मय पिण्ड, मस्तिष्कका जाज्वल्यमान नक्षत्र है। यदि शरीर रथ है; नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पाँच अश्व जुड़े हैं; बुद्धि लगाम है तो हमारा मन सामर्थ्यवान् सारथि है।* इस सुदिव्य रथपर आरूढ़ हो आत्मा अज्ञानरूपी घोर शत्रुको पराजित कर अपने यथार्थ पदपर आसीन होता है। उपर्युक्त रथके अश्व अत्यन्त द्रुतगामी हैं। उन्हें व्यवस्थित रखनेके लिये बुद्धिको दृढ़ रखना आवश्यक है। इस बुद्धिका व्यवस्थापक मन है। मन एक

* उपनिषदोंमें तथा अन्यान्य आर्षग्रन्थोंमें 'मनको लगाम और बुद्धिको सारथि' (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ·····कठोपनिषद्) बतलाया गया है। वहाँ 'संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति' का नाम मन है, जो बुद्धिके अधीन है और बुद्धिके द्वारा प्रेरित होता है एवं बुद्धिके मन्द पड़ जानेपर इन्द्रियरूपी घोड़ोंके अधीन हो जाता है। वहाँ बुद्धि संचालक और निर्णायक है—वह स्वरूपतः मनसे श्रेष्ठ है (—'मनसस्तु परा बुद्धिः' गीता ३। ४२)।

परंतु यहाँ जिस मन-बुद्धिका प्रसंग है, वह मन धारणा, विचार और इच्छाकी समन्वयरूपा सूक्ष्मतम शक्ति है। यहाँ मन बुद्धिका प्रेरक है, व्यवस्थापक है, उसको प्रकाश प्रदान करनेवाला है और बुद्धि उसके अधीन है।

'बुद्धि' से यहाँ मनके संचालन और व्यवस्थाके अधीन रहनेवाली इन्द्रिय और मनके बीचकी वृत्ति विवक्षित है। अतः इस प्रसंगसे किसीको भ्रम नहीं होना चाहिये।

महाप्रचण्ड शक्तिवाला डाइनमो (Dynamo) समझिये। यह विपुल सामर्थ्योंका बृहत् भण्डार है और नियमोंको उत्पन्न करनेवाला यन्त्र है। सुख-दु:खकी प्रतीति, चिन्ता, हास्यका संचार, संकल्पों एवं आत्मबलका उदय-अस्त इसी यन्त्रसे सम्पन्न होता है। इसीके प्रतापसे बुद्धि ज्ञानसंचय करती है एवं प्रेरणा (Inspiration)-की ज्योति उद्भूत होती है। धारणा, बुद्धि एवं चित्त—इन तीनोंकी समष्टिका प्रतीक मन है। अज्ञानरूपी शत्रु-साम्राज्यके विघटनके लिये इसका नियमन प्रधान साधन है। यह अजर-अमर ज्योति:स्वरूप सतत व्यापारशील तथा नवीन अनुभवोंका प्रेमी है। इसकी सामर्थ्य महोदधि-सी अगाध एवं व्योम-सी नि:सीम है।

पाश्चात्त्य मनोविज्ञानवेत्ताओंने मनके तीन भाग किये हैं—भावना (Feeling), बुद्धि (Thinking)और चित्त (Willing)। यह मनस्तत्त्व इन्द्रियोंद्वारा उद्भूत रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा शब्दमयी ज्ञान-सामग्रियोंकी गतिविधि तथा हेयत्व और उपादेयत्वका विवेचन करता है। संसारका कोई पदार्थ ऐसा वेगवान् नहीं है।

तुम मनकी क्रियाओंका निरीक्षण कर सकते हो। वह कैसा उछल-कूद मचाता है, कहाँ-कहाँ भागता है, मालूम कर सकते हो। जो मनकी नाना प्रकारकी क्रियाओंका निरीक्षण करनेवाला है, वह मनसे कोई पृथक् सत्ता है। यह हमारी चेतना (Consciousness) है। चेतना ही मनकी द्रष्टा है। चेतना ही शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिकी द्रष्टा है। चेतना केवल निरीक्षण करती है। वह मनके कार्योंमें हस्तक्षेप नहीं कर पाती। मन स्वयं जड है, इसका विकास क्रमिक और वातावरण सापेक्ष है। भोजन, वस्त्र, स्थान तथा साहचर्यका इसपर अमिट प्रभाव पड़ता है। दृश्य, स्पृश्य, भोज्य, पेय, श्राव्य तथा सूँघनेयोग्य वस्तुओंमें प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियोंको यदि अधिकार, योग्यता और स्थितिके विपरीत लक्ष्योंमें प्रवृत्त न होने दिया जाय तथा जो वस्तु, व्यक्ति अथवा तत्त्व जैसा है, उसके विपरीत उसमें कल्पनाके लिये यदि इन्द्रिय-परवश मनको अवसर न दिया जाय तो मन मनुष्यको ईश्वर बना सकता है।

मनकी प्रवर्तक सत्ता उसके गर्भभागमें स्थित है। वह उसी प्रवर्तक सत्ताकी

प्रेरणा एवं आधारपर विविध व्यापार करता है। यह अगम्य सत्ता अमृतकुण्ड नामक स्थलमें निवास करती है। यह महासत्ता हमारा आत्मा है। आत्मा ही मनकी चालक सत्ता है। वह इसे गति (Motion) प्रदान करता है। मनका प्राण आत्मतत्त्व ही है। यह आत्मा ही देखने-सुननेवाला, छूनेवाला, विचार करनेवाला, जाननेवाला, क्रिया करनेवाला विज्ञानयुक्त है।

किसी भी अनुभूत विषयकी मनमें आवृत्ति होने लगती है। आवृत्तिके कारण बुद्धिपर उसका संस्कार संचित हो जाता है। संस्कारके दृढ़ हो जानेपर वह वस्तु अथवा अनुभूत व्यापार उद्भावक सामग्री प्रस्तुत होनेपर स्मृतिपटपर व्यक्त होने लगता है और क्रमशः मनुष्यके बाह्य जीवनमें उसका अवतरण होने लगता है। मन मानससे भी अधिक निर्मूल, सूर्य-सा दीप्त और वायुसे भी अधिक गतिशील है। यह मन ही मनुष्यके मोक्ष और बन्धन दोनोंका साधन है। बाह्य अवयवोंकी समता होनेपर भी मनुष्य असाधारण मनके कारण ही असामान्य बन जाता है। मनकी प्रायः अवस्था तीन प्रकारकी होती है। पहली अन्धकारमय अवस्था, जिसमें मनकी स्थिति जड, निष्क्रिय-जैसी बन जाती है, यह अंधकारमय स्थिति है। तमोगुणके कारण हम इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं। ऐसे तमोऽभिभूत व्यक्ति उत्तम विचार करना नहीं जानते। मनकी दूसरी अवस्था राजसिक अवस्था है। राजस व्यक्ति दौड़-धूप करता है और अपना प्रभुत्व दूसरोंपर जमाता है। बलवान् बननेकी महत्त्वाकांक्षा उसके मनमें जाग्रत् रहती है। मनकी तीसरी अवस्था अत्यन्त उज्ज्वल एवं पवित्र है। यह सात्त्विक स्थिति है। इसमें मन केवल अध्यात्मरत रहना चाहता है और आनन्द-ज्ञानलोकसे प्रकाशित रहता है। इसके बादकी स्थितिको तुरीयावस्था कहते हैं। यह सर्वोच्च भूमिका शनैः-शनैः अभ्याससे प्राप्त होती है। धीरे-धीरे मनके द्रष्टा बननेसे इस तुरीयावस्थामें प्रवेश होता है। इसीमें हम राजयोगकी सर्वोच्च समाधि प्राप्त करते हैं। यहाँ मन अमन हो जाता है।

मनकी तीन भूमियाँ

पूर्वीय शास्त्रकारोंके अनुसार मनकी तीन भूमियाँ होती हैं—स्मृति, जागृति तथा धृति। स्मृति-भूमिमें मानवलोकके ज्ञान तथा अनुभवकी खोजकी वह दुर्लभ

मंजूषा रहती है, जिसे जाग्रत् मनने अतीत कालमें प्राप्त किया था। 'जागृति' में मन ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा केवल हृदयजगत्से सन्नद्ध रहता है। धृतिमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके उपयोगके बिना ही सहानुभूति-पद्धतिसे मनमें विचार जाननेकी शक्तिके इतने अधिक उदाहरण उपस्थित हुए हैं कि संसारको मनके इस प्राकृतिक वेगका पूर्ण विश्वास हो गया है। यह निःसन्देह सिद्ध हो चुका है कि मनमें पंच-ज्ञानेन्द्रियोंको, साधन-सामग्रीके बिना स्वतन्त्ररूपसे अपने चारों ओर जो नाना प्रकारकी क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं, उसे जान लेनेकी शक्ति है।

धृति-अवस्थामें मन अथवा ध्यानस्थ आत्मा मनुष्याकारके तुल्य सत्य है, तो भी उसका कोई वजन या तोल नहीं है, तथा न वह दृश्य, स्पृश्य अथवा विभाज्य पदार्थके समान ही है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रमें वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। गम्भीर विचार तथा विशुद्ध विवेक भी उसके मूलको, स्वभावको तथा उसके अन्तको ढूँढ़नेमें असमर्थ हैं, तथापि वह मानवके मनमें स्थित है एवं अत्यन्त प्रकाशमान है।

शरीरमें नाना विकारोंका प्रवेश होता है। विचारोंके तूफान, भ्रान्तिके बवंडर भीमाकार होकर प्रविष्ट होते हैं। आशा, निराशा, संकल्प, इच्छाके झंझावात हृदयमें आन्दोलित होकर ठहरते, चलते, उद्वेग उत्पन्न करते तथा अन्ततः चिरशान्तिमें विलीन होते हैं; किंतु इस दृश्यमान जगत्के नित्य नये-नये परिवर्तित होते हुए दृश्योंमें हमारे भीतर एक श्रेष्ठ अवर्णनीय सत्ता है—जो शाश्वत है, सत्य है एवं मनके चमत्कृत प्रदेशोंमें निज रहस्यमय प्रकाश विकीर्ण करती है। धृतिस्थ मनके माध्यमद्वारा मनुष्यका अनन्त शक्तिसे जागृति-सम्बन्ध हो जाता है, जिससे सम्पूर्ण स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये यथेष्ट बल खींचा जा सकता है। केवल मनमें बुराईसे इनकार करना यथेष्ट नहीं है। इसी प्रकार केवल मनमें भलाईको स्वीकार करना ही यथेष्ट नहीं है, निरन्तर उसको समझने और प्रवृत्तिमें लानेका उद्योग करना चाहिये।

आत्मसंकेतद्वारा आकर्षक व्यक्तित्वका निर्माण

संकेत तुम्हारे व्यक्तित्वपर निरन्तर प्रभाव डाला करते हैं। व्यक्तित्व है हो क्या? तुम्हारे अपने विचारों, धारणाओं तथा भावनाओंका फल। स्वयं अपने विषयमें जैसे तुम्हारे संकेत रहते हैं, वे ही तुम्हारे व्यक्तित्वका निर्माण करते हैं।

सम्भव है तुम्हें प्रकृतिने एक आकर्षक व्यक्तित्व न प्रदान किया हो; किंतु इसमें संदेह नहीं कि तुम संकेतद्वारा अपने व्यक्तित्वको ऊँचा उठा सकते हो। व्यक्तित्व एक बिना जुती भूमि (Virgin soil)-की तरह है। उसमें क्या-क्या रत्न छिपे पड़े हैं यह तुम नहीं जानते। सफल जीवनके लिये इनका विकास करना होगा। सफल व्यक्ति इसी कारण सफल हैं कि उन्हें अपनी दिव्यताओंकी प्रतीति अन्योंकी अपेक्षा शीघ्र हो गयी है। अनेक महान् व्यक्तियोंको आधा जीवन व्यतीत करनेके पश्चात् अपनी दिव्य विभूतियोंका ज्ञान हुआ और तभी उन्हें सफलताके दर्शन हुए।

तुम जिस गुणका विकास अपने अंदर करना चाहते हो, उसीके संकेत अपने व्यक्तित्वको दो। उसी विषयका विचार चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते या कार्य करते सदैव लाते रहो। उन संकेतोंको क्षणभरके लिये भी अपने मनसे पृथक् न होने दो। सदा उन्हींके प्रबोध मनोभूमिमें लगाते रहो। तुम उन्हींमें तल्लीन—इतने तन्मय हो जाओ कि कभी थोड़ी देरके लिये भी दूसरा विचार मनमें न रहे।

दूसरा कदम यह है कि तुमको अपनी इच्छित वस्तु या परिस्थिति प्राप्त है—ऐसा भान करो। तुम्हारे निर्देश जितने सच्चे होंगे, उतनी ही शीघ्र तुम्हारी इच्छित वस्तु या गुण तुम्हारे पास आकर्षित होकर आयेंगे।

जिस भावनाका प्रचुर प्रकाश तुम्हें इष्ट है, उसका एक संकेत बनाओ। इस संकेतमें कल्पनाद्वारा एक ऐसा विस्तृत चित्र रहे जिसमें उक्त वस्तुकी प्राप्तिका चित्रण रहे। जितने महान् तुम्हारे संकेत होंगे, जितनी श्रद्धासे तुम उन्हें दुहराओगे, उतनी ही सफलता प्राप्त होगी। तुम यह भ्रम मनसे सर्वदा निकाल

डालो कि तुम उन दिव्य गुणोंसे दूर हो या वे तुममें नहीं आयेंगे। दृढ़तापूर्वक अपना मन इष्ट-भावनाओंपर केन्द्रित करो और तुममें उन्हींका संचार होगा।

हम यहाँ कुछ ऐसी भावनाएँ दे रहे हैं जिनसे साधकोंको व्यक्तित्व उत्थानमें अपूर्व लाभ होगा और अनेक दिव्य गुण आ जायँगे। प्रत्येक व्यक्तिको निश्चयपूर्वक नित्य रात्रिमें सोते समय या प्रतिदिन एकान्त स्थानमें नियत समयपर अभ्यास करना चाहिये। जिस स्थानपर यह किया जाय, वहाँ अनावश्यक शोर न हो, कोई दूसरा व्यक्ति प्रवेश न करे। चुपचाप निश्चेष्ट शान्त-चित्त होकर बैठ जाओ और बड़े श्रद्धापूर्वक मनन करो कि 'अब मैं दुःखदायी मनोवृत्तियोंमें न फँसूँगा। अभीतक मैं शरीर, वासनाओं तथा इन्द्रियोंका गुलाम बना हुआ था, अब मेरे ज्ञानके नेत्र खुल चुके हैं और मुझे प्रतीत हुआ है कि मेरे स्वभावने ही मुझे यह सब कुछ नाच नचाया है। अब मेरे हृदयमें तत्त्वदृष्टिका उदय हो गया है, मैं शरीर और वासनाओंसे ऊपर उठ चुका हूँ।'

'संसारकी कोई विषमता मुझे परेशान नहीं कर सकती। मेरे हृदयमें ईश्वरीय दिव्य प्रेमका संचार हो रहा है। मेरा चित्त, स्वभाव शान्त एवं निर्दोष हो गया है। पवित्र ज्ञानकी धारा मेरे विशुद्ध अन्तःकरणमें बह रही है। अब मैं उत्कृष्ट अवस्थाका अनुभव कर रहा हूँ।'

'सम्पूर्ण अशान्ति, उद्वेग, मनोविकार एवं कुभाव मेरे चित्तकी भूमिकासे उखड़ गये हैं। मेरा स्वभाव बिलकुल बदल गया है। संसारके प्रलोभन मुझे बन्धनमें नहीं डाल सकते। मेरे पवित्र और शुद्ध अन्तःकरणमें कोई क्षोभ और अशान्ति उत्पन्न करनेवाली तरंग हिलोरें नहीं ले सकती।'

कल्पना तथा इच्छा-शक्ति

यदि आप संकेतसे सबसे अधिक लाभ उठाना चाहते हैं तो ऐसा प्रयत्न कीजिये कि आपकी कल्पना (Imagination) तथा इच्छा (Will)-का संयोग होता रहे। इच्छा हमारे जीवनमें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है; किंतु कल्पना-शक्ति सभी मानसिक शक्तियोंमें विलक्षण शक्ति है। मनुष्यकी

समस्त धारणाएँ पहले कल्पनामें आती हैं, तत्पश्चात् उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी कल्पना-शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। कल्पनाके अभावमें संकेतका कार्य प्रायः अधूरा ही रह जाया करता है। कल्पना तथा इच्छा-शक्तिके संयोगके बिना मानव-जीवनके उच्चतर उपहारोंकी प्राप्ति एकदम असम्भव है। ऊँचे उठनेवालेके लिये कल्पना-शक्ति अतीव आवश्यक है।

अपनी कल्पनाको व्यर्थके कुत्सित विचारोंकी तरफ न मोड़ो सर्वदा एक स्पष्ट एवं सुनिश्चित दिशाकी ओर लगाओ। ऐसे संकेत दो कि तुम्हारी शक्ति उत्तम विषय, उन्नति और स्वावलम्बनकी ओर ही लगी रहे। इसके लिये अपनी रुचिको केन्द्रीभूत करना आवश्यक है। प्रमाद और आलस्यमें पड़े रहनेवाले कभी इच्छाशक्तिको बलवती नहीं बना सकते।

एकसे अधिक मार्गोंपर चलनेसे मनुष्य मार्गमें ही भटकता रह जाता है। हमें अपनी कल्पनाको बहुमूल्य विचारोंकी उपजका साधन बनानेकी ओर ही ध्यान देना चाहिये। जितनी स्पष्टतापूर्वक तुम अपनी सफलताका मानसिक चित्र निर्माण कर सकोगे, उतनी ही वह तुम्हारे लिये सुलभ हो जायगी। कल्पनाकी रंग-बिरंगी कूचीसे तुम ऐसा भव्य चित्र मानस-पटलपर प्रस्तुत करो, जिसमें तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा, अखण्ड विश्वास और स्थिर संकल्प निहित हो।

उद्देश्यका मानसिक चित्र

उच्चता प्राप्त करनेके लिये आप जो महान् कामना करते हैं उसका एक स्पष्ट मानसिक चित्र (Clear-cut-vision) निर्माण कीजिये। यदि आप केवल धुँधले चित्रोंका निर्माण करेंगे, 'केवल यह प्राप्त हो जाता तो अच्छा रहता—' की भावना बनाये रहेंगे तो कुछ भी लाभ न होगा। धुँधले चित्र बनाना ऐसा ही है जैसे एक विशाल समुद्रमें पत्थर फेंकना और यह कामना करना कि उससे ज्वार-भाटा उठने लगेगा।

जब आपने अपने उद्देश्यका महान् मानसिक चित्र बना लिया, तब आप अपनी शक्तियोंको उसी दिशामें मोड़ सकते हैं। आपका अव्यक्त मन अपनी

गुप्त सामर्थ्यसे आपकी अपूर्व सहायता कर सकता है। अनेक व्यक्ति अपनी गुप्त सामर्थ्यको जाग्रत् नहीं करते; फलतः वे जहाँ-के-तहाँ पड़े रहते हैं। अपनी समस्त शक्तियोंको निश्चित उद्देश्यकी ओर लगाइये।

उस महानताको प्राप्त करनेवाले किसी उत्कृष्ट व्यक्तिकी प्रतिमा अपने मनोमन्दिरमें लाइये। कुछ कालतक उस व्यक्तिके विशेष गुणोंपर विशेषरूपसे ध्यान लगाये रहिये। धीरे-धीरे वे ही गुण आपमें प्रकट होंगे। आपके कार्योंमें उन्हीं गुणोंका स्पष्टीकरण होगा। अपने आदर्शको श्रद्धापूर्वक देखिये। जितना आप अपने-आपमें तथा अपने आदर्शमें विश्वास दृढ़ करेंगे, जितना आप प्रस्तुत पुस्तकके वाक्योंपर विश्वास करेंगे, उतनी ही सफलता प्राप्त होगी। एक वाक्यको लीजिये और कम-से-कम वर्षभर उसीपर क्रिया, मनन, विचार करते रहिये। डॉक्टर स्विफ्टने (Dr. Swift) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (The Jungle of the Mind)-में एक स्थानपर लिखा है—'विद्या, संकेत अथवा नियम इत्यादिकी उपयोगिता तभीतक है, जबतक आप उनसे काम लेते हैं। यदि वे निष्क्रिय पड़े रहते हैं तो सब कुछ व्यर्थ है।' अतएव आजसे ही सोचिये कि आप सायंकालतक क्या-क्या करेंगे? कल क्या करना चाहते हैं? इस वर्ष क्या और कितना करनेका विचार कर रहे हैं? तथा बीस वर्षमें कहाँतक पहुँच जानेकी हिम्मत रखते हैं?

क्या ही उत्तम हो यदि आप स्वयं अपने-आपको इस प्रकार एक पत्र लिखें और नित्य उसे पढ़ें—

प्रिय कृष्ण,

तुम्हें यह मालूम करके हर्ष होगा कि अब मैंने अपने विषयमें निश्चित धारणाएँ बना ली हैं। मैंने स्पष्टतः यह निश्चित कर लिया है कि मुझे जीवनमें क्या-क्या करना है। अब मैं यों ही समय नष्ट न कर, एक-एक क्षणका उचित उपयोग करता हूँ। इस वर्षमें मुझे कितना काम कर डालना है, यह मैंने विस्तृत रूपमें लिख लिया है और क्रमशः उसे प्राप्त भी करता जा रहा हूँ। दिनका काम एक दिन पहलेसे ही लिख लेता हूँ और प्रातःकाल उसे पूरा करनेके लिये जुट जाता हूँ। मेरे जीवनका स्रोत एक विशेष दिशामें बह रहा है।

सर्वप्रथम मैंने यह निश्चित किया है कि मैं अपने शरीरकी मशीनको ठीक अवस्था (Working Order)-में रखूँगा। उसके सूक्ष्म पुर्जोंको बिगड़ने न दूँगा। न उससे इतना अधिक काम लूँगा कि वह कार्याधिक्यसे नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, न इतना कम काम लूँगा कि उसमें जंग (Rust) लग जाय। मुझे उसे सौ वर्षतक चलाना है। निर्दोष आमोद-प्रमोदका तेल देकर मैं उसे सदैव उत्तम स्थिति (Fit as fiddle)-में रखूँगा। हँस-हँसकर उसकी शुष्कताका अन्त करूँगा। उचित व्यायाम, शुद्ध वायु, सूर्यका प्रकाश—इन तीन तत्त्वोंसे भरकर मैं उसे स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ रखूँगा।

द्वितीय, मैं तुम्हें भी यही सम्मति दूँगा कि तुम अपने मनको शान्त अवस्थामें रखना। मैं यही करता हूँ और मनकी शान्तिको भंग नहीं होने देता। कठिनाइयाँ आती हैं, किंतु मुझसे टक्कर पाकर पुनः वापस चली जाती हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ आते हैं; किंतु मुझे अडिग पाकर लौट जाते हैं। वे मेरी समस्वरता (Harmony)-को भंग नहीं कर पाते। वे मुझे कदापि विचलित नहीं कर सकते। मैं अन्धानुकरण नहीं करता; प्रत्युत अपनी मौलिकतासे काम लेता हूँ। मुझे भलीभाँति ज्ञात हो गया है कि मेरे भीतर महान् शक्तियाँ छिपी हुई हैं। मैं इन सबका प्रकाश करनेके लिये जीवन-संग्राममें कूद पड़ा हूँ।

मैं दूसरोंपर निर्भर नहीं रहूँगा, प्रत्युत अपने प्रत्येक कार्यमें अपनी विशेषता प्रदर्शित करूँगा। तुम भी यही करो, दूसरोंके दास न बनो। अपनी मौलिकताका प्रदर्शन करो! मैं दासत्वके बन्धनसे मुक्त हो गया हूँ। और तुम्हें भी यही सम्मति दूँगा कि अपने चारों ओरके जेलखानेकी दीवारोंको तोड़ डालो।

मैं सदा-सर्वदा आत्मस्वरूपमें लीन रहता हूँ, एक क्षण भी अपने स्वरूपकी विस्मृति नहीं होने देता। पूर्ण आरोग्यमय स्थितिमें ही निवास करता हूँ। विपत्ति-सम्पत्ति, अनुकूल-प्रतिकूल सब समयमें सम-स्थित रहता हूँ; मैं क्षुद्र पदार्थों और विचारोंमें रमण नहीं करता। मेरे लक्ष्य महान् हैं, अब असंख्य प्रलोभन भी मुझे उच्च मार्गसे नहीं गिरा सकते।

मैं निरन्तर परमात्माकी आराधना करता हूँ। उन्हींके कारण मेरे प्राण, मन, नस तथा रोम-रोममें पवित्रताका संचार हो रहा है। कोई भी बुराई अब मेरे

हृदय, मन या अन्तःकरणमें नहीं ठहर सकती। मेरा सात्त्विक जीवन शान्त एवं सुखमय है। मैंने पवित्र जीवनका अटल व्रत धारण किया है। इस व्रतको मैं कभी भंग नहीं कर सकता। मैं तो ईश्वरकी इच्छा पूर्ण करनेका एक साधनमात्र हूँ। उसीने मुझे अगाध बल प्रदान किया है। मैं अपना व्यक्तित्व भूलकर ईश्वरीय कार्य कर रहा हूँ। मैंने उच्च ध्येयकी सिद्धिके लिये अपना जीवन अर्पण किया है। मैं पग-पगपर अपने महान् उत्तरदायित्वको दृष्टिमें रखता हूँ।

तुम्हारे हितकी कामना करता हुआ,

'मैं'

कागज-पेंसिल निकालकर स्वयं अपने-आपको एक ऐसा ही पत्र लिखो। यह पत्र तुम्हींको स्वयं ही पढ़ना है, अतः तुम इसमें अपने हृदयकी गुप्त-से-गुप्त बातें लिख सकते हो। तुम्हें इस पत्रमें इतने संकेत लिखने चाहिये, जितने तुम अपने कार्यके लिये उचित समझते हो। जैसे-जैसे तुम सिद्धियाँ प्राप्त करते जाओ, नये-नये पत्र लिखते रहो। इस पत्रको नित्य उसी प्रकार पढ़ो, जैसे डाकियेद्वारा लाया हुआ ताजा पत्र। प्रत्येक दिन तुम्हें इससे नयी प्रेरणा प्राप्त होगी।

कार्यका प्रेरक संकल्प

संकल्पद्वारा हम कार्य-क्षेत्रमें अद्‌भुत विजय प्राप्त कर सकते हैं। जबतक विचारके साथ कार्य(Action)-का समन्वय नहीं होता, तबतक विचार केवल पंगु ही रहेगा। संकल्प उत्तम विचारको कार्यके साथ मिलाकर उस विचारको सार्थक तथा क्रियाशील बनाता है। केवल विचारमात्रसे कुछ प्राप्त नहीं होता। हवाई-किले बनाना एक प्रकारका प्रमाद है; किंतु संकल्प प्रेरणा प्रदान कर कार्यमें प्रवृत्त कराता है। इसकी प्रेरणासे हम कितने ही ऐसे कार्य कर डालते हैं जो शायद कभी न कर पाते।

जो व्यक्ति अपने-आपको नीचे लिखे संकेत देता है, वह अवश्य ही क्रियाशील व्यक्ति (Practical Minded) बन जाता है; किंतु संकल्पमें बल अनिवार्य है। यह संकल्प इतनी श्रद्धापूर्वक दोहराये जायँ कि तुम उत्तेजित हो उठो, तुमसे बैठे न रहा जाय—

'मैं अब व्यर्थकी कल्पनाकी तरंगोंमें उछल-कूद नहीं करता। व्यर्थ ही हाथ-पर-हाथ धरे नहीं बैठता। मैं अक्रियता (dull in activity)-में या अस्थिरतामें अपने बहुमूल्य जीवनको बर्बाद नहीं करता। मुझे भलीभाँति विदित हो गया है कि इस जगत्में बिना हाथ हिलाये कुछ भी प्राप्त नहीं होता। एक तिनकेके भी दो नहीं हो सकते।'

'मैं इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाको अपने जीवनमें एकत्रित करके प्रचण्ड इच्छा-शक्तिको जाग्रत् कर रहा हूँ। मैं अपने मनको इन्द्रियोंके पीछे भागने-दौड़ने नहीं देता; किंतु एकनिष्ठ होकर समग्र विचारको क्रियाके साथ जोड़ता हूँ। मैं जो कुछ सोचता हूँ उसे प्रत्यक्ष भी करता हूँ। मैं अपने पाँवोंपर ही खड़ा हूँ। दूसरेका सहारा मुझे नहीं चाहिये, मैं जीवनको उच्च बनानेका मार्ग जान गया हूँ। मैं क्रिया (action)-के महत्त्वको भली प्रकार समझ गया हूँ।'

'मैं जान गया हूँ कि हाथ-पाँवोंसे काम लेनेमें ही उन्नति है। जो पढ़ता हूँ, सोचता हूँ, उसे करता अवश्य हूँ। यों ही सोचकर ही नहीं रह जाता हूँ।'

'मेरा मन अब भय और भ्रमके चंगुलमें नहीं फँसता। मैं क्रियाद्वारा प्रबल होनेकी दृढ़ आकांक्षा रखता हूँ। मैं अपनी मनोवृत्तियोंपर दृढ़तापूर्वक शासन कर सकता हूँ। मैं विपरीत वस्तुओंपर अपनी प्रभुता स्थापित करता हूँ और उनके वश नहीं हो सकता।'

'मेरे प्रत्येक विचारमें क्रिया अवश्य रहती है। मैं वह मनुष्य नहीं हूँ जो क्षण-क्षण विचार बदला करता है। मैं फालतू विचार-धारामें अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करता। मैं प्रतिकूलताकी शिकायत नहीं करता, प्रत्युत प्रत्येक कार्यको स्वयं करके देखता हूँ।'

'मेरे वचन तथा कार्य सच्चे हैं। आवाजमें, शब्दोंमें, विचारमें मेरी क्रिया भी मिली हुई है। प्रकृतिका नियम है कि जिसमें क्रिया होगी, वही कुछ कर सकेगा। मैं इस तथ्यपर जीवनका विशाल दुर्ग खड़ा कर रहा हूँ।'

संकेतद्वारा स्वभाव-परिवर्तन

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉक्टर विलियम ब्राडन अव्यक्तके आश्चर्यजनक रहस्योंका उद्‌घाटन करते हुए उल्लेख करते हैं—'मैं एक रात्रिमें अपना पाइप

(Pipe)पी रहा था। मुझे ऐसा लगा मानो कोई कह रहा हो कि धूम्रपान बुरा है। मैंने सोचा मुझे हुक्का पीना छोड़ देना चाहिये। उस रातको मैं देरतक कहता रहा—'तम्बाकू हानिकारक है, घृणित है, इससे अनेक बुराइयाँ फैलती हैं। मैं कलसे जरा भी हुक्का न पीऊँगा। तम्बाकूसे मेरा अब कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो निर्विकार, निष्कलंक व्यक्ति हूँ, फिर तम्बाकू-जैसे निकम्मे और निरुपयोगी पदार्थसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता।' मैं अव्यक्त (Unconscious) मनको ऐसे संकेत देकर सो गया। जब प्रात:काल उठा, तब मुझे पाइप पीनेकी इच्छा ही न हुई। तबसे मेरी वह बुरी आदत छूट गयी। अब मैं संकेतकी अद्‌भुत शक्तिमें विश्वास करने लगा हूँ।

संकेत इच्छा-शक्तिको दृढ़ कर देता है तथा हमारी समस्त शक्तियोंको चमका देता है। वही हमारे स्वभावको परिवर्तित कर सकता है। स्वभाव हमारी कुछ मन:स्थितियोंकी रही हुई स्थिरता है। कुछ विषयों, विचारों, भावनाओंपर हम अधिक चिन्तन करते रहते हैं। अत: उनके संस्कार अधिक दृढ़तासे अंकित हो जाते हैं। उन्हीं मन:स्थितियोंके अनुसार हमारे कार्य होते हैं।

यदि हम चाहें तो संकेतके अभ्यासद्वारा अपने स्वभावका चिड़-चिड़ापन, खिन्नता, निराशा, उदासी, क्रोध, शोक-संताप आदि सब कुछ बदलकर इच्छानुसार आदतें बना सकते हैं। केवल शुभ एवं उपयुक्त विचारको मनमें दृढ़ करनेभरकी ही आवश्यकता है। जो संकेत बार-बार मस्तिष्कमें लाया जाता है; जिसपर अधिक चिन्तन किया जाता है; जिसपर हमारी आस्था होती है, वही हमारे मनका एक स्थायी अंग बन जाता है—यही स्वभाव है।

किसी एकान्त स्थानमें चले जाओ और शान्त बैठकर निम्नलिखित प्रबोधको बार-बार दुहराओ। जितनी अधिक देरतक तुम्हारे मनमें इन विचारोंका ताँता बँधा रहेगा, उतनी ही सफलता प्राप्त होगी—

'मैं अनुभव कर चुका हूँ कि जितना अधिक मैं जड-चेतन पदार्थोंमें आसक्त होता हूँ, उतना ही अधिक परेशान होता हूँ। जिन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये मैं दिन-रात 'हाय-हाय' करता हूँ, उनके न प्राप्त होनेपर मुझे भयंकर उत्क्रान्ति होती है। इन पदार्थोंसे आसक्ति हटी कि अन्य पदार्थोंमें अनुरक्ति हो जाती है तथा स्वार्थपरताके बन्धनमें मैं अधिकाधिक बँधता जाता हूँ।'

अन्तस्तलमें छिपे हैं। उसमें एक ऐसी गुप्त शक्ति भी प्रस्तुत है जो उसे ठीक-ठीक दशामें उगने, बढ़ने और फलित होनेका आदेश करती है।

मनुष्यके नन्हे शिशुको लीजिये। वह अबोध नहीं जानता कि किन अदृश्य नियमोंके अनुसार वह क्रमशः बड़ा होकर एक पुरुष बन जाता है। उसका शारीरिक विकास होता है, वासनाएँ प्रदीप्त होती हैं; किन्तु अन्तमें वह भौतिक उन्नतिसे ऊँचा उठकर आध्यात्मिक जगत्में प्रविष्ट होता है। जैसे गेहूँका दाना अपनी प्रगतिके विषयमें निर्बोध होता है। उसी प्रकार इस मनुष्यको भी अपने विकासका यथार्थ बोध नहीं होता।

इन दोनों ही उदाहरणोंमें मार्ग दिखानेवाली एक अदृश्य सत्ता है। यही पेड़, यही पत्ती, यही पुरुष, यही पशु-पक्षी और मानव समस्त चर-अचर सृष्टिका पथ निर्देश करती है। एक निश्चित क्रम Law and Order नियम तथा योजनाके अनुरूप हम सभी अग्रसर हो रहे हैं। एक अदृश्य, कभी न गलती करनेवाली शक्ति ही हमें यथार्थ मार्गदर्शन करा रही है। यह आत्माकी शक्ति है। इसे ईश्वरकी प्रेरक सत्ता भी कह सकते हैं।

अतः सर्वप्रथम अपनी आत्माको पहचानिये और फिर अनात्माको। ईश्वर दोनोंका मालिक है। सोचिये 'मैं कौन हूँ? हाथ, पाँव, मांस, रक्त, स्नायु ही क्या मैं हूँ?' जब आपकी समझमें आयेगा कि इनमेंसे कोई भी 'मैं' नहीं हूँ, तभी अन्तर्दर्शनका मार्ग प्रशस्त होगा। जिस प्रकार प्याजके छिलकेको निरन्तर उतारते रहनेसे वह पतला हो जाता है, उसी प्रकार 'मैंपन' के पृथक्करणसे यह तत्त्व सहज ही समझमें आ जायगा कि 'मैं' आत्मा ही हूँ।

मनुष्य ईश्वरका प्यारा पुत्र है। उसे उन्हीं दिव्य विभूतियोंसे सज्जित किया गया है, जो परमपिता परमेश्वरमें मौजूद हैं। परमेश्वरने उसे अपनी ही आकृति, रूप, गुण, तत्त्व, शक्तियोंसे विभूषितकर यहाँ भेजा है। यही कारण है कि मनुष्यकी शारीरिक वृद्धिसे अधिक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक उन्नति होती है। शारीरिक तथा आध्यात्मिक सम्पदाएँ निरन्तर बढ़ती हैं। प्रतिदिन, प्रतिपल दिव्य शक्तियाँ वृद्धिपर रहती हैं। यदि मनुष्यकी व्यर्थकी आवश्यकताएँ, वासनाएँ और विषयभोगकी थोथी इच्छाएँ आध्यात्मिक मार्गमें रोड़ा न अटकाएँ तो वह पथिक

जीवन-धन

मनुष्यकी प्राणशक्ति जीवनका सर्वोपरि धन है। 'मेरे पास अमुक धनराशि है, मेरे पास अमुक संख्यामें मकान हैं, मुझे अमुक-अमुकसे रुपया लेना है, मेरे पास ऐश्वर्यके सब साधन हैं। फिर मुझसे बढ़कर धनी कौन है? मैं बड़ा शक्तिशाली हूँ।' ये विचार ठीक नहीं हैं। उपर्युक्त सब वस्तुएँ धन नहीं हैं। मोह और अविवेकके पर्देके कारण रुपया-पैसा, जायदाद, मकान, जमीन आदि वस्तुएँ हमें धन-जैसी मालूम होती हैं। वास्तविक धन वह प्राणशक्ति है, जो हममें विद्यमान है। धन वे श्वास हैं, जिन्हें हमें लेना है; धन वह जीवन है, जिसका आनन्द हमें उठाना है। वास्तविक धन वह स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा हमें संसारकी समग्र वस्तुओंको भोगना है।

यथार्थ धन जीवन-धन है। जीवन-धन संसारके सब धनोंसे उत्कृष्ट है। बैंकोंमें जमा की हुई आपकी असंख्य धनराशि जीवन-धनके एक कणसे भी छोटी है। जमीन-जायदाद उसका मुकाबला नहीं कर सकती। मकानमें वह ताकत नहीं कि जो जीवन-धनसे समता कर सके। सांसारिक सम्पदा आपके लिये कोई अर्थ नहीं रखती, यदि जीवन-धनकी बूँदें समाप्त हो चुकी हैं।

एक भिखारी है, शरीरसे हट्टा-कट्टा। खाता है मोटी रोटी, पहनता है फटा वस्त्र, सोता है सड़कके पास वृक्षकी छायामें। वह प्रसन्न है, यद्यपि उसके पास न रुपया है, न मकान, न जमीन-जायदाद। उसके पास जीवन-धन है, जो सब धनोंका सिरमौर है।

संसार सापेक्ष(Relative) है। जीवन और संसारमें घनिष्ठता है। जीवन संसारसे बड़ा है क्योंकि संसारका अस्तित्व जीवन (आपके जीवन-धन)-पर है। यदि आपके पास जीवनरूपी यह श्रेष्ठ धन है, तो संसारका सुख-आनन्द, मकान-जमीन, रुपया-पैसा कुछ अर्थ रखता है, अन्यथा सब व्यर्थ। जहाँ जीवन है वहाँ संसारका सुख है। शरीरके साथ संसार नहीं जाता। अकेला शरीर चला जाता है। फिर जगत्का मेरापन कहाँ रहा? जीवन-धनके साथ जगत्के सब पदार्थोंका अस्तित्व है। हमारा जीवन ही संसार है। यही सुख है। यही वास्तविक

होने चाहिये और उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये। चिन्ता है तो इस बातकी कि कहीं फर्म दिवालिया न हो जाय। इस प्रकार जिसमें ममता होती है, उसकी चिन्ता रहती है। यह ममता ही दुःखकी जड़ है।'

एक दूसरा उदाहरण लीजिये

'मेरे कोई पुत्र नहीं है। पुत्र होता तो अच्छा था। पितृ-ऋणसे भी उद्धार हो जाता। पुत्र हो जाता है। अब चिन्ता है कि यह स्वस्थ रहे, बीमार न हो। वह बड़ा होता है, चिन्ता है कहीं दुष्ट न निकल जाय। इसकी शिक्षा दीक्षा ठीक हो। चिन्ता करते-करते शिक्षा पूर्ण होती है। अब फिक्र है कि किसी प्रकार इसे नौकरी मिले, जीविकाका प्रश्न हल हो जाय। किसी प्रकार यह भी हो जाता है, तो फिर उसके विवाहकी चिन्ता है। राम-राम कर अच्छी जगह विवाह होता है, अब चिन्ता है बहू ठीक रहे; लड़े-झगड़े नहीं। उसके शिशु इत्यादि जन्म लें। वह तथा पौत्र बीमार न हों। एकके पश्चात् एक कड़ी ममता-मोहसे बँधी है।

इस ममत्व और ममत्वसे उत्पन्न इन नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें फँसकर हम अपने सुख, शान्ति, आनन्दकी ओर नहीं देखते। व्यर्थके बोझ अपने ऊपर बढ़ाकर उन्हें दूर करनेके उपाय सोचा करते हैं। पहले नाना प्रकारकी समस्याओंमें अनावश्यक रूपसे फँस जाना, फिर पागलोंकी तरह उन्हें दूर करनेमें अपना जीवन-धन नष्ट करना कहाँका विवेक है?

जीवन-धनके क्षयका दूसरा कारण वासना-तृप्ति है। वासनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं—कामवासना, प्रशंसा, महत्ता, ऐश्वर्य, प्रसिद्धि इत्यादि। इनके माया-जालमें बहुत-सा जीवन-धन नष्ट हो जाता है।

कामवासना महान् अनर्थकारी है। यह जीवमात्रकी सबसे बड़ी शत्रु है। इस एक वासनाको वशमें करनेसे मनुष्य सैकड़ों उत्तरदायित्वों, घृणित रोगों, ऋण, बच्चोंके भार, उनके विवाह-शादियोंके कमर तोड़नेवाले व्ययोंसे बच जाता है। एक विवाहसे ही इतना बोझ बढ़ता है कि उसे सँभालते-सँभालते, हलका करते-करते जीवन-धन आधेसे अधिक व्यय हो जाता है। उस व्यक्तिके कष्ट, मानसिक चिन्ता तथा आर्थिक दुरवस्थाकी कल्पना कीजिये, जिसके एकसे

अधिक पत्नियाँ या दस-बारह संतान हैं। उस अनजानका जीवन-धन इन्हींके उत्तरदायित्वको समाप्त करनेमें नष्ट हो जायगा।

जीवन-धनकी रक्षाके लिये वासनापर विजय प्राप्त कीजिये। उसके फंदेमें मत फँसिये। दूसरे शब्दोंमें विलास, कामलोलुपता, व्यभिचार, तामसी आहारसे दूर रहिये। कामवासनाकी तृप्ति असम्भव है। जीवनपर्यन्त साथ लगा रहनेवाला यह विकार है। अत: थोड़ेसे ही तृप्तिकी भावना दृढ़ करनी चाहिये।

सावधान रहिये—घृणा, द्वेष, हिंसा, वैर, मान, अहंकार, कामना इत्यादि दुष्ट मनोविकार जीवन-धनको न चुरा लें। काम, क्रोध, दम्भभरे कूड़े-करकटको बाहर फेंककर मनको निर्मल रखिये। अनावश्यक तृष्णासे अपनेको बचाये रखिये, अन्यथा उसमें व्यर्थ ही जीवन-धन व्यय हो जायगा। हाथ कुछ न आयेगा।

अनावश्यक वस्तुओं—जमीन-जायदाद, धन-सम्पदा, वस्त्र, रुपये या अन्य वस्तुओंके संग्रहकी भावनाका परित्याग कर दीजिये। इनकी देख-रेख तथा व्यवस्थामें जो शक्ति नष्ट होती है, उसे बचाकर रखिये।

आवश्यकताओंको कम कीजिये। एक शौकीनीसे दूसरी, दूसरीसे तीसरी फिर चौथी उत्पन्न होती है। आवश्यकता-पूर्तिका ताँता टूटने ही नहीं पाता। जो शक्ति है, जीवन है, उसे आनन्द-प्राप्तिमें लगाना चाहिये।

व्यसन छोड़ दीजिये। इनकी उत्तेजनाओंमें मनुष्यका जीवन-धन बिना आगा-पीछा देखे व्यय होता है। तम्बाकू, मद्य, अफीमके नशेमें मनुष्य प्राणशक्तिका क्षय निरन्तर करता चलता है। इस विनाशका ज्ञान उसे तब होता है, जब उसके अवयव जवाब दे डालते हैं। इसी प्रकारका कुटिल आकर्षण व्यभिचारमें है, जो अनेक घृणित रोगोंके अभिशाप देकर मनुष्यकी प्राणशक्तिका बुरी तरह क्षय करता है।

भोगोंमें वैराग्यभावना करनेसे ही उधरसे वृत्ति रुक सकती है। धन और स्त्रीका भोग छोड़ना प्रथम सोपान है। तदनन्तर कीर्तिकी चाह छोड़कर अनासक्तभावसे जगत्‌में निवास कीजिये।

अपनी आयमें ही समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाय, व्यर्थके झूठ, कपट, दूसरोंका माल हड़पकर काला बाजार, घूसखोरी, बेईमानी न करनी पड़े,

इन्द्रिय-लोलुपताकी वृद्धि न हो—यह ध्यान रखिये। अधिक आवश्यकताएँ, फैशन, विलासप्रियता अनावश्यक मानसिक तनाव उत्पन्न करती हैं। इनसे बचे रहिये। धन ऐसा अथाह समुद्र है जिसमें सम्मान, आत्मा और सत्य सभी डुबाये जा सकते हैं।

'कठिनाइयाँ हैं, कठिन समय है, हमारा भाग्य ही खराब है।'—ऐसी बेमतलबकी भ्रान्तियोंको मन-मन्दिरमें न आने दीजिये। आत्मविश्वासकी कमी ही हमारी बहुत-सी असफलताओंका कारण है। शक्तिके विश्वासमें ही शक्ति है। वे सबसे कमजोर हैं (चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों)। जिन्हें अपने-आपमें तथा अपनी शक्तिमें विश्वास नहीं। अनेक आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ बहुधा आशीर्वाद सिद्ध होती हैं। फालतू अनर्थकारी चिन्तनमें जीवन-धनका व्यय मत कीजिये।

सर्वोच्च आनन्दकी प्राप्ति परमेश्वरके सांनिध्यमें है। ईश-चिन्तनमें जो क्षण व्यतीत होते हैं, इन्द्रियसंयममें जो समय लगता है, समाजसेवा, परोपकारमें जो समय व्यय होता है, वही आनन्ददायक है।

मन्दिर-मठ बनानेसे कोई लाभ नहीं, जबतक आपकी भावना परोपकारकी न हो। ईश्वर रिश्वत नहीं चाहता। उससे श्रेष्ठ यही है कि पुराने मन्दिरमें रहकर ही मानवरूपी ईश्वरकी सेवा की जाय।

ईश्वरीय तत्त्वोंका निरन्तर अपने चरित्रमें विकास करते रहिये। वीर्यवान्, नीरोग, शक्तिसम्पन्न और पवित्र बनिये। दूसरोंके प्रति आपका व्यवहार प्रेमपूर्ण हो।

मृत्युका भय त्याग दीजिये। जन्म और मृत्युका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जब वहाँसे बुलावा आयेगा, चले जाना होगा। उसमें भयकी क्या बात! जगत्के प्रति जितनी आपकी आसक्ति—मोह होगा, मृत्युमें उतना ही कष्ट होगा। आसक्ति कम करते जाइये और सुखी रहिये।

जगत्के माया-जालसे दूर रहकर हमें उच्चतम आनन्द प्राप्त करना है, इन्द्रियोंके क्रीतदास नहीं बनना है; दयानिधान प्रभुकी असीम अनुकम्पापर हमें विश्वास रखना है—यह भावना रखनेसे जीवन-धनकी रक्षा होती है।

है, अन्य सब इसीके ऊपर आश्रित हैं। अत: हमें चाहिये कि जीवन-धनकी रक्षा करते रहें।

जीवन-धनको व्यय करनेमें साधारण धन व्यय करनेकी अपेक्षा अधिक सतर्कता, मितव्ययिता, दूरदर्शिता और सावधानीकी आवश्यकता है। आपके पास एक रुपया होता है, तो उसे व्यय करनेमें आप घंटों सोचते हैं। इस रुपयेको खर्च करनेका सबसे अच्छा उपाय क्या है? किस तरह इससे अधिकतम आनन्द प्राप्त किया जाय? कहीं ऐसा न हो कि कोई चोर इसे चुराकर ले उड़े? किसीको उधार न दें, कहीं वह न लौटाये तब?

जीवन-धन व्यय करते समय उपर्युक्त तर्कोंके अतिरिक्त भी असंख्य तर्कोंको लगाना पड़ता है। हमें अपना जीवन किस कार्यमें व्यय करना है? किस-किस वस्तुको एकत्रित करना है? किस-किसमें अपना मोह डालना है? किस-किससे अपने हाथ-पाँव बचाने हैं?

जीवन-धनकी रक्षाके उपाय

जीवन-धनका ह्रास मानसिक विकारोंके उद्वेग तथा उत्तेजनाओंसे होता है। मानसिक जगत्‌में जो नाना प्रकारके संघर्ष, उद्वेग, चिन्ताएँ चलती रहती हैं, जिनमें हमारा मन लगकर निरन्तर प्राणशक्तिको क्षीण किया करता है; वह चिन्ता, अतृप्ति, ममत्वका बन्धन हमारी प्राणशक्तिको कम करता है। एक उदाहरण लीजिये—

'यह मकान मेरा है, चूनेके एक कण-कणमें मेरापन भरा हुआ है। उसे बेच दिया, हुंडी हाथ आ गयी। इसके बाद मकानमें आग लग गयी। मैं कहने लगा— बड़ा अच्छा हुआ, रुपये मिल गये। मेरापन छूटते ही मकान जलनेका दु:ख मिट गया। अब हुंडी—कागजमें मेरापन है। बड़े भारी मकानसे निकलकर सारा मेरापन जरा-से कागजके टुकड़ेमें छा गया। अब हुंडीकी तरफ कोई नहीं ताक सकता। हुंडी बेच दी, रुपयोंकी थैली हाथमें आ गयी। इसके बाद हुंडीका कागज भले ही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैलीमें आ गयी। अब उसीकी सँभाल होती है। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे उसके यहाँसे वे रुपये चोरी चले जायँ, कोई परवा नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा

अध्यात्म-विद्या

अध्यात्म-शास्त्रका विषय

'अध्यात्म' शब्द अधि+आत्मके योगसे विनिर्मित होता है। अधि+आत्मका शाब्दिक अर्थ है 'आत्मामें'। मन, वचनसे तथा कायासे होनेवाले जितने व्यापार हैं, उन सबसे उपरत होकर जब आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध-आनन्दस्वरूपमें मग्न हो जाता है, तब वह वास्तवमें 'अध्यात्म' शब्दसे अभिप्रेत तत्त्वको प्राप्त कहा जा सकता है।

'आत्मामें' अर्थात् 'मैं' में 'मैं' का स्वरूप स्पष्ट होते ही जीवनमें निरपेक्ष सत्य, शाश्वत शान्ति और विवेकका प्रकट होना ही अध्यात्म-शास्त्रका गुप्त रहस्य है। सांख्यदर्शनके एक सूत्रका अर्थ है—'ज्ञानसे मुक्ति होती है।' किंतु यहाँ ज्ञानसे तात्पर्य ऐतिहासिक या भौगोलिक ज्ञानसे नहीं है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द अपने विशुद्ध अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानका अर्थ है—'आत्मज्ञान'। उपनिषद् कहते हैं—'जो मनुष्य अपने जीवनमें आत्मज्ञान लाभ करते हैं, उन्हींका जीवन वास्तवमें सार्थक है।' योगेश्वर श्रीकृष्णने संक्षेपमें निर्देश कर दिया है—**'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'** यहाँ स्वभावका अर्थ कोई अभ्यासविशेष नहीं है। 'स्वभाव' का अर्थ है 'स्व' का भाव अर्थात् 'आत्मा' का भाव। जिस आत्माका ज्ञान सब ज्ञानोंका शिरोमणि एवं मोक्षदाता है, जो आत्मा सदा अखण्ड, एकरस, अव्यय रहता है; जो निर्बल-से-निर्बल शरीरधारीका भी सर्वोच्च बल है; जो आत्मा सर्वत्र आनन्दघन स्वरूपसे, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से ओतप्रोत है; जिसमें क्षणमात्र भी स्थित होनेसे सकल पाप-तापोंका क्षय होता है और मुक्ति प्राप्त होती है, वह निर्विकार 'आत्मा' ही अध्यात्म-शास्त्रका प्रमुख विषय है।

पंच-इन्द्रियोंको शास्त्रकारोंने देहरूपी रथको खींचनेवाले पाँच उपद्रवी अश्व माना है। 'आत्मा' उस रथमें सवार है। रथीको ध्येयपर पहुँचानेके स्थानपर ये अश्व विषयोंकी खाईमें ला गिराते हैं, जिसमें गिरकर रथी घोर दुःख पाता है। इसलिये इनको वशमें कर स्वनियत मार्गपर चलानेके लिये आत्माकी महान् शक्तियोंके विकासकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

अन्तर्जागृति योगका प्रथम सोपान है। अध्यात्म-शास्त्रका साधक ज्यों-ज्यों बाह्य जगत्से विरक्त होकर अन्तर्जगत्की ओर बढ़ता जाता है, ज्यों-ज्यों वह सांसारिक प्रलोभनोंसे बचकर अन्त:करणकी दैवी सम्पदाएँ प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों वह अन्त:स्थित आत्माके अत्यन्त समीप पहुँचता जाता है। क्रमश: वह दिन आता है जब वह पूर्ण निर्विकल्प समाधिद्वारा आत्मस्वरूपमें—विशुद्ध आत्मिक सुखमें—स्थित हो जाता है। उस तदाकार क्रिया, उस उच्च भूमिकामें प्रवेश करनेवाले साधकको 'अध्यात्म' के वाच्य अर्थको प्राप्त हुआ समझना चाहिये।

ज्ञानीजन मनुष्यकी शक्तिको अपरिमेय कहते हैं। ऐसा निर्देश करते समय वे वास्तवमें मनुष्यकी महान् आत्माके अपरिमेय बलका ही संकेत करते हैं। आत्मा सत्-चित्-आनन्द, अनन्त ज्ञान, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का भण्डार है। 'जीवोऽहम्' भावकी सर्वप्रथम वाणी हम इस सृष्टिमें आते ही उच्चारण करते हैं। गर्भावस्थाको ब्राह्मीस्थितिका प्रतीक बताया गया है। इस संसारमें प्रविष्ट होनेसे पूर्व वह जीवात्मा भगवान्से प्रार्थना करनेके लिये मस्तक झुकाता है, यहाँतक कि उसका हनु (ठोड़ी) वक्ष:स्थलसे टिक जाता है। कृपालु प्रभु उसकी शरणागतिपर दयार्द्र होकर उसे वाग्वैभव देते हैं और इसीके बलपर वह समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ हो जाता है; किंतु प्रसव होते ही वह 'जीवोऽहम्' भावकी प्रथम वाणी रुदनके रूपमें व्यक्त करता है।

श्रीगीतामें 'अध्यात्म' शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। अर्जुनने प्रश्न किया— 'ब्रह्म क्या है?', 'अध्यात्म क्या है?' उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—'अक्षर' जो क्षरता नहीं, घटता नहीं, बढ़ता नहीं, अपरिणामी, त्रिकालमें एकरस, निर्विकार पदार्थ जो है वास्तवमें वही ब्रह्म है। वह परमात्मा, चिन्मय-चैतन्यमात्र है। प्रत्येक देहमें 'अहं' या 'मैं' रूपसे प्रतिबिम्बित परमात्माका जो 'स्व' भाव होता है, देहके बन्धनके आरम्भसे मोक्षपर्यन्त पुन: परमात्मभाव—ब्रह्मभावकी प्राप्तितक, जो भाव होता है, वह 'अध्यात्म' भाव है। आत्माके 'मैं' के अधिकारमें, 'अहं' के सम्बन्धसे जो किया जाय—जो उत्पन्न हो, वह अध्यात्म है।

परमात्माके दो अंग हैं—एक प्रत्यक् (आत्मा वा पुरुष), दूसरा प्रकृति। देहमें स्थित प्रत्यगात्मा-अंशके अर्थात् जीवके बन्धसे मोक्षपर्यन्त जो क्रिया है, वह सब 'कर्म' (बन्धकारक, निष्कर्म तथा मोक्षकारक) है। नश्वर पदार्थोंका

भाव, 'अधिभूत' भाव कहलाता है। पुरुष अर्थात् प्रत्यगात्मा वा जीव अधिदैव भाव है। जीवनरूपी यज्ञ जो शरीरके सम्बन्धसे जीव सदा करता रहता है, इस यज्ञका देवता जिसके आराधन-प्रसादनके लिये यह जीवन यज्ञ, प्राणाग्निमें सब इन्द्रियोंके विषयका सतत होम—हवन किया जाता है, यह 'आत्मा' ही है।

जो कुछ भी वस्तु प्रिय है, वह आत्माके लिये ही प्रिय है; '**इदं सर्वं दृश्यं जगत्**' समग्र संसारमें जो कुछ गोचर है, प्राणरूपी आत्माका भोग्य विषय है। श्रीमद्भगवद्गीतामें 'अध्यात्म' शब्द और भी आया है, जैसे—'**अध्यात्मचेतसा**', '**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**', '**अध्यात्मनित्याः**', '**अध्यात्मसंज्ञितम्**', '**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**' इत्यादि संक्षेपमें आत्मा-सम्बन्धी वस्तु, ज्ञान या विचार 'अध्यात्मशास्त्र' के अन्तर्गत हैं। 'मैं' 'अहं' चैतन्यकी चेतना प्रत्येक जीवको हो रही है। यही लक्षण निकटतर आत्माका है।*

पण्डित शिवदत्तजी शर्मा कहते हैं कि आजकलके व्यक्ति विज्ञानमें पारंगत होकर कोई नवीन आविष्कार करके दुनियाके मनुष्योंको चन्द्र-मंगलकी यात्रा सुगम कर देते हैं, उन्हें लोग महापुरुष समझते हैं, किन्तु अध्यात्मज्ञान जिस भाग्यशालीको हुआ है, वह इन सबसे उच्च स्तरपर निवास करता है। भगवान् श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा ईसाके नामोंपर कितने सिर जमीनपर झुकते हैं।

जप, तप, ध्यान, दान, पूजन, पाठ सब इसीलिये किये जाते हैं कि किसी प्रकार आत्मज्ञान हो। मैं खाता हूँ, पीता हूँ, चलता हूँ, बोलता हूँ; वह मैं (आत्मा) क्या है? यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। जिस समय मैं आत्मा हूँ—यह समझमें आ जाता है, उसी समय 'अहं ब्रह्मास्मि' का वास्तविक अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है। उसी समय यह महावाक्य सार्थक होता है, जब साधक ब्रह्मानन्दमें डूबा हुआ होता है।

तुम्हारा जीवन अन्तर्वेदनाको आमन्त्रित करते रहनेके लिये नहीं है। आत्मतत्त्वकी प्राप्ति तुम्हारे जीवनकी सर्वोच्च परिणति है। निरन्तर सत्त्वशील व्यक्ति ही आत्मवान् हो सकते हैं। आजके युगमें मनुष्य उद्विग्न है, बेचैन है और वासनाओंकी परतन्त्रतामें छटपटा रहा है। इसका प्रधान कारण आत्मबलका

* डॉ० भगवानदास।

अभाव है। आत्मबलविहीन पुरुष, जीवित पुरुषोंकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। यदि कोई व्यक्ति इसी देहके साथ शीघ्रतासे उच्च पदपर स्थित होना चाहता हो तो वह अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न महापुरुषोंके सुसंगको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका अन्तिम फल जीवन्मुक्ति है।

जिन व्यक्तियोंको आत्मज्ञान नहीं उपलब्ध हो सकता, वे व्यक्ति निम्नलिखित हैं—(१) जो अपने ज्ञानकी चर्चा इधर-उधर करते फिरते हैं, (२) जिन्हें अपने ज्ञानका घमंड है और (३) जिन्हें अपनी सम्पत्तिका अभिमान है। यदि कोई उनसे कहे कि अमुक स्थानमें एक आत्मज्ञानी रहते हैं, क्या उनसे मिलने आप चलेंगे? तो वे कहेंगे कि हमें एक आवश्यक कार्य करना है, हम न जा सकेंगे। किंतु अपने मनमें सोचते हैं, हम तो बड़े विद्वान् हैं, उनसे मिलकर क्या लाभ होगा? ऐसे स्वार्थी आत्माका बोध नहीं कर पाते; फलतः आयुपर्यन्त दुःखी रहते हैं।

अध्यात्म-जगत्‌में प्रविष्ट होते ही साधक उस उच्च ज्ञानकी सृष्टिमें प्रवेश करता है, जहाँ अनन्त शान्ति, अक्षय प्रेम, सद्भाव तथा आत्मभावकी प्रधानता है। ऐसा आत्मज्ञानी प्रत्येकमें अपने ही आत्माका दर्शन करता है, वह आत्माको शरीरसे भिन्न समझता है और सांसारिक वस्तुओंकी नश्वरता उसे विदित हो जाती है। आत्म-निरीक्षणद्वारा कुप्रवृत्तियोंको पहचानकर वह निरन्तर उनसे युद्ध करता है। चित्तकी समग्र वृत्तियोंको वह केवल एक आत्म-तत्त्वपर केन्द्रीभूत करता है, उसकी बुद्धि परिमार्जित होनेके कारण उसे अध्यात्म-पथमें निरन्तर उत्साहित करती है। आत्माकी पवित्रताके कारण उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष कभी पराधीन नहीं होते। अध्यात्म-विद्या स्वतन्त्रताकी माता है।

आध्यात्मिक जीवन

मनुष्य-जीवन इस भूतलका सर्वोत्कृष्ट जीवन है। अनेक पूर्व-सत्कर्मोंके परिणामस्वरूप इस पवित्र जीवनकी उपलब्धि होती है। इसके साथ हमारे जन्म-जन्मान्तरके उच्च संस्कार, गुप्त सदिच्छाएँ, प्रेम, सहयोग, आत्मीयता, संतोष एवं आनन्दकी गुप्त सम्पदाएँ जुड़ी हुई हैं।

अत्यन्त परितापका विषय है कि आज मानव अतृप्ति, अशान्ति, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध, लालचकी भट्टीमें दग्ध हो रहा है। धन—जो कि एक साधनमात्र है, को ही वह माध्यम मान बैठा है। दूसरेके विषयमें कुत्सित चिन्तन करता है, नाना प्रकारकी महान् अनर्थकारी योजनाएँ विनिर्मित करता है। कितने ही व्यक्ति काल्पनिक दु:खोंकी बातें मन-मन्दिरमें रख अपने आत्मबलको क्षीण कर रहे हैं। इस प्रकार असंख्य मनुष्य यही सोचा करते हैं कि अमुक हमारा अहित चाहता है, अमुक हमसे बदला लेना चाहता है; अमुक हमें धोखा देकर नष्ट करना चाहता है। परनिन्दाकी भावना, भय, काम, क्रोधादि विकार आधुनिक मनुष्यके अन्तर्मनमें तूफान मचाते रहते हैं और समय पाकर उसके सम्पूर्ण ज्ञान, निष्ठा एवं विश्वासको नष्ट कर देते हैं।

मनुष्यकी अधोगतिका एक कारण यह भी है कि उसने अभीतक अपने-आपको पशुत्वकी श्रेणीसे ऊँचा नहीं उठाया है। बाह्यरूपमें वह 'मनुष्य' सम्बोधनका अधिकारी अवश्य है, किन्तु आन्तरिक विकासकी दृष्टिसे वह पशुत्वकी श्रेणीमें ही स्थिर है। उसके मनोवेग, प्रकृतियाँ, वासनाएँ, विचार असंस्कृत, अपरिपक्व तथा असंयमित हैं।

पशुत्व क्या है?

जो मनुष्य अपने मनोवेगों—काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह, अहंकारका क्रीतदास है, जो क्षणिक आवेशमें आकर उद्विग्न हो उठता है; मारता-पीटता, गाली देता है, वह 'पशुत्व' की श्रेणीमें ही है। पशुका जीवन केवल इन्द्रिय-सुखों तथा शारीरिक वासनाओंकी तृप्तिमात्रके निमित्त होता है। वह 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ!' में विश्वास रखता है तथा इसी निर्देशके चारों ओर उसका जीवन-चक्र घूमता है। वह काम-वासनाका शिकार है। काम-रिपु उसे क्षण-क्षणमें नष्ट-विनष्ट करता, नाना प्रकारके असंस्कृत दुष्ट कृत्योंमें संलग्न रखता है। वह विलासी, असंयमित, विषयी, अंधाधुंध, बिना आगा-पीछा सोचे शारीरिक अपवित्रताओं एवं यातनाओंको सहता है। तुच्छ स्वार्थोंके वशीभूत होकर वह अपने कुटुम्ब, पड़ोसी, गरीब तथा समाजके प्रति अत्याचार करता है। इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके प्रपंचमें पड़कर वह अपने अन्त:करणसे अन्याय

करता है, अहंकारसे उद्धत होकर दूसरोंके स्वत्वोंका अपहरण करता है; अत्याचार और अनाचारके आवेशमें सत्-असत्का विवेक करनेकी शक्ति उसमें नहीं होती। वह बाहरी चमक-दमक, मिथ्या प्रदर्शन, शरीरके थोथे शृंगारमें व्यस्त रहकर संसारको अपने विषयमें सच्चा विचार नहीं देना चाहता। उसका 'अहं' इतना संकुचित होता है कि वह केवल अपना ही भला देखता है और उसकी प्राप्तिके लिये बड़े-से-बड़ा कुकृत्य करनेको तत्पर हो जाता है। वासना-सम्बन्धी सुख ही उसके लिये सब कुछ है।

वासनाके कीड़े

जिस प्रकार विष्ठाकी गंदी नालीमें पड़े हुए कीड़ेको वही जीवन सुन्दर प्रतीत होता है; उसी प्रकार असंयमी, कामी, क्रोधी, लालची व्यक्तिको निम्नकोटिके जीवनमें ही परम सुख प्रतीत होता है। उसमें मनुष्यका वह भाग जाग्रत् रहता है, जो उसे पशुत्वकी श्रेणीमें रखता है। आज जो दुष्ट, धोखेबाज, स्वार्थी, व्यभिचारी, दुष्कर्म करनेवाले व्यक्ति हम देखते हैं, वे इसी वासनामय जीवनसे संतुष्ट हैं। नरककी ज्वालासे दग्ध होते हुए भी वे इसीसे मित्रता किये हुए हैं।

पशुत्व-श्रेणीके मनुष्यकी सबसे बड़ी कमजोरी वासनाकी अनियन्त्रितता है। वह कामवासनाकी पूर्तिके लिये सत्-असत्का विवेक नहीं कर पाता। वह गंदे और असभ्य मार्गोंका अवलम्बन करता है; व्यभिचारकी ओर आकृष्ट होता है और पापकी दृष्टिके कारण सर्वनाशके पथपर चलता है। व्यभिचार जितना लुभावना है, उतना ही दुःखदायी है। जलानेवाली अग्निकी तरह चमकता-दमकता है। जड़मूलसे नष्ट कर देनेकी शक्ति इस कुकर्ममें है। पशु-मानव इस सर्वनाशके मार्गपर चलता है और भारी क्षतिका सामना करता है। पाप, कलंक, बदनामी, शक्ति-क्षयका उसे कोई विवेक नहीं होता। उसे तो क्षणिक सुख चाहिये।

पापका प्रलोभन

पाप करनेमें भी एक प्रकारका कुत्सित प्रलोभन होता है। पशुत्व-श्रेणीका व्यक्ति पाप करनेमें नहीं हिचकता। उसकी अन्तरात्मा मर जाती है, वह उसे

नहीं धिक्कारती। पापके प्रलोभनके सम्बन्धमें श्री के० नन्द व्यासने एक बड़ी मर्मस्पर्शी कहानी लिखी है। इसे हम पापके मनोविज्ञानकी जानकारीकी दृष्टिसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

'एक ब्राह्मण देवता दरिद्रताके कारण अत्यन्त क्लान्त होकर एक राजाके यहाँ भिक्षा माँगनेके हेतु गये। उस नगरका राजा बड़ा चतुर था तथा वह सच्चे वैरागी और योग्य ब्राह्मणोंको ही दान दिया करता था। सुपात्र-कुपात्रकी परीक्षाके लिये उसने महलके चार दरवाजे बना रखे थे। इन्हें पार करनेवाला साधु सुपात्र समझा जाता था तथा उसे पर्याप्त दान मिलता था।

ब्राह्मणने महलके प्रथम द्वारमें प्रवेश किया ही था कि एक वेश्या निकलकर सामने आयी। उसने राजमहलमें प्रवेश करनेका कारण ब्राह्मणसे पूछा। देवताजीने उत्तर दिया—धन-याचनाके लिये राजाजीके पास जाना चाहते हैं। वेश्याने कहा कि इस दरवाजेसे आप तब अंदर जा सकते हैं, जब पहले मुझसे रमण कर लें, अन्यथा दूसरे दरवाजेसे जाइये। ब्राह्मणको वेश्याकी शर्त स्वीकार न हुई। अधर्माचरण करनेकी अपेक्षा दूसरे द्वारसे जाना उसने पसंद किया। वहाँ घुसनेवालोंको मांसाहार करना पड़ता था। ब्राह्मण वहाँसे लौट आया। तीसरे द्वारपर मद्यकी बोतल और प्याली रखी हुई थी। प्रहरी पहले शराब पिलाकर परीक्षा करता था। ब्राह्मण उलटे पाँव लौट आया। चौथे द्वारपर पहुँचकर ब्राह्मणने देखा कि वहाँ जुआ हो रहा है। जो लोग जुआ खेलते हैं, वे ही अंदर घुस पाते हैं। ब्राह्मणने सोचा यह तो मामूली-सी बात है। चारों दरवाजोंपर धर्मविरोधी शर्तें हैं। पैसेकी मुझे जरूरत है। एक ओर धर्म और दूसरी ओर पापका घमासान युद्ध उसके मनमें होने लगा। ब्राह्मण फिसला। उसने सोचा—'थोड़ा-सा जुआ खेल लें; तनिक-सा पाप होगा। मेरे पास मार्ग-व्ययसे बचा हुआ एक रुपया है। क्यों न इससे जुआ खेल लूँ और भीतर प्रवेश पानेका अधिकारी हो जाऊँ।'

विचारोंको विश्वासके रूपमें बदलते देर न लगी। वह जुआ खेलने लगा। एक रुपयेके दो रुपये हुए; दो के चार तथा चारके आठ। जीत-पर-जीत होने लगी। ब्राह्मण राजाके पास जाना भूल गया और एकचित्त होकर जुआ खेलने लगा। शामतक हजारों रुपयोंकी गठरी बाँधकर चला। दिन-भरसे खाया कुछ

भी न था। भूख जोरसे प्रतीत हो रही थी। पासमें कोई भोजनकी दूकान न थी। ब्राह्मणने दूसरे द्वारपर जाकर मांसका भोजन किया। वह मुफ्त मिलता था। ब्राह्मण देवता मांसाहार अधिक कर गये। उसे पचानेके लिये कुछ चाहिये। मांससे कामवासना उद्दीप्त हो उठी। अब उन्हें मद्यपान करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। आगे दरवाजेपर जाकर शराबकी कई प्यालियाँ चढ़ायीं।

धनका, मांसका, मद्यका तिहरा नशा उनपर चढ़ रहा था। सुराके बाद सुन्दरीका ध्यान आना स्वाभाविक था। ब्राह्मणजी पहले दरवाजेपर आकर वेश्याके यहाँ जा विराजे। वेश्याने उन्हें संतुष्ट किया और पुरस्कारस्वरूप सारे रुपये ले लिये। वेश्याने दूसरे दिन उन्हें घरसे निकाल दिया। राजाको सारी सूचना पहुँच चुकी थी। ब्राह्मणने पुनः वही करना चाहा, किंतु उन्हें मार-पीटकर निकाल दिया गया।'

उपर्युक्त कथाका मर्म मनुष्यत्वमें पशुताके प्रवेश होने तथा उससे पतन होनेका मर्म प्रकट करता है। जो व्यक्ति पशुत्वकी श्रेणीमें हैं, उनकी कुप्रवृत्तियोंपर भी इससे प्रकाश पड़ता है। पशुत्वके प्रतीक हैं हमारी दूषित भावनाएँ। इन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) शारीरिक वासनाएँ—जैसे स्वादिष्ट भोजनकी लालसामें तामसी विकृत, गरिष्ठ भोजन करना, मद्य-मांस-भक्षण तथा अन्य उत्तेजक पदार्थोंकी ओर प्रवृत्ति। उत्तेजक वासनाओंको उद्दीप्त करनेवाले भोजनोंद्वारा जिह्वातृप्ति।

(२) व्यसन तथा व्यभिचार, मिथ्या भाषण, धोखा देने, मुफ्तका माल उड़ाने, कार्य न करने, आलस्यमय जीवन व्यतीत करनेकी ओर प्रवृत्ति। सिनेमा, वेश्यागमन, मिथ्याचार, पापाचार इत्यादि।

(३) निकृष्ट इच्छाओं तथा मनोविकारोंके वशमें रहना; तनिक-सी बातसे उद्विग्न हो उठना, गाली देना, मारना-पीटना, ईर्ष्या-द्वेष तथा लोभके वशमें रहना; मनोविकारोंके अधीन रहना।

(४) पाप-दृष्टि—प्रत्येक व्यक्तिमें असत्‌की कल्पना, दूसरोंसे मिथ्या भय, निर्बलता, कायरता, छल, पाखण्ड और प्रपंच। नीचतापूर्ण ओछे विचार रखना, बेईमानी, धोखेबाजी, खुदगर्जीकी नीतिका अवलम्बन करना।

उपर्युक्त मार्गपर चलनेवाले व्यक्ति पग-पगपर दूसरोंकी, समाजकी, देशकी, घृणा, बदनामी, तिरस्कार, अपमान, उपहास और अविश्वासका सामना करते हैं। वे सदा कुढ़न, द्वेष, विरोध, निन्दा, अशान्तिकी अग्निमें जलते रहते हैं। ऐसी जिंदगी पशुओं-जैसी निकृष्ट जिंदगी है। इस नीतिको अपनानेसे उन्हें आमतौरसे दूसरोंकी नाराजी, निन्दा, भर्त्सना, बुराई तथा विरोधका सामना करना पड़ता है। यह जीवन तुच्छ और हर प्रकारसे निकृष्ट है। पापमें सना हुआ है। इस लोक तथा परलोक दोनोंको नष्ट करनेवाला है। पशु ही ऐसे गंदे मार्गपर चल सकता है। जिसमें परमेश्वरका दिव्य अंश आत्मा विराजमान है, वह ऐसे घृणित जीवनको ठोकर मारता है। वह अपने अंदर उन देवतुल्य दैवी सम्पदाओंकी अभिवृद्धि करता है, जिनसे उसके 'मनुष्यत्व' का विकास होता है। 'मनुष्यत्व'-में वे सब उत्कृष्ट तत्त्व विद्यमान हैं, जिससे मनुष्यकी सर्वांगीण उन्नति होती है। 'मनुष्य' बनना देवता बननेका प्रथम सोपान है।

परिवारकी धार्मिक व्यवस्था

जिस परिवारमें प्रतिदिन ईश्वर-चिन्तन होता है, प्रात:-सायं नियमित-रूपसे प्रार्थना की जाती है, उसमें लक्ष्मीकी कृपा रहती है। समृद्धिमें वृद्धि होती है। जिस परिवारमें मन, वाणी और चरित्रकी पवित्रता है, उसमें सद्ज्ञानका प्रकाश होता है। जहाँ ज्ञानका प्रकाश है, वहाँ अशिक्षा, मूढ़ता एवं अंधविश्वास क्योंकर रह सकते हैं? अतएव अज्ञानको दूर करनेके लिये घरमें पूजा-पाठ, धार्मिक ग्रन्थोंका घरेलू पुस्तकालय, भक्ति और पवित्रता उत्पन्न करनेवाले चित्र, साधु-महात्माओंका सत्कार, सुपात्रको दान और अतिथियोंकी प्रतिष्ठाकी मान्यता रहनी चाहिये। जिस परिवारमें इस प्रकार सच्चे हृदयसे धर्म-चर्चा होगी, उसमें अज्ञान और दारिद्र्य कदापि न रहेंगे।

परिवारके प्रत्येक सदस्यको चाहिये कि निश्चित समयपर पूजाके स्थानपर बैठकर ईश्वर-चिन्तन करे, पवित्र भजनोंका गान करे, प्रभु-कीर्तन तथा भजनद्वारा चित्तको उच्च आध्यात्मिक तत्त्वोंमें संलग्न रखे। यदि घरमें एकान्त

न हो, तो सरिता, तालाब या अन्य किसी एकान्त स्थानपर जाया जा सकता है। ईश्वर-चिन्तनका अभिनय मत कीजिये। अनेक व्यक्ति पवित्र स्थानोंपर जाकर मनमें विकारमय दृष्टिकोण लिये रहते हैं।

ढोंगियोंसे सावधान! ये लोग धोखा देकर घरोंमें चोरी कराते हैं; स्त्रियोंको बहकाते हैं। सच्चे ईश्वरभक्त एकान्तमें ही भजन-पूजन करते, हुल्लड़ तथा मिथ्या प्रदर्शनकी प्रवृत्तिसे दूर भागते हैं।

प्रतिदिन कुछ पृष्ठ धार्मिक पुस्तकोंके अवश्य पढ़िये। धीरे-धीरे संसारकी वस्तुओंसे आपका चित्त खिंचता जायगा और उच्च विषयोंपर आ जायगा। काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह इत्यादिके चंगुलसे छूटकर आप अपने वास्तविक सत्-चित्-आनन्दस्वरूपपर प्रतिष्ठित हो जायँगे। परमात्मा या आत्माको छोड़कर बाह्य वस्तुओंमें आपको सुख प्रतीत न होगा। बाह्य सुख आत्मसुखकी एकमात्र परछाईं-सी प्रतीत होने लगेगी। वस्तुओंमें सुख है ही नहीं, सुखाभास है। स्थायी सुख, अनन्त अखण्ड सुख अपने आत्मामें है।

परिवारको गंदगीसे बचाइये। गंदगीके अनेक प्रकार हैं। गंदे विचार, नग्न चित्र, कुत्सित सिनेमा-चित्र, अश्लील आदतें, व्यभिचार, मद्यपान, चाय, सिगरेट, भाँग इत्यादि सभी निकृष्ट वस्तुएँ हैं। उच्च परिवारोंमें इनका अणुमात्र भी न होना चाहिये। इन सभीमें बड़ी संक्रामकता है। वे एक व्यक्तिसे दूसरे, फिर तीसरेपर पहुँचती हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण परिवार विनष्ट हो जाता है। व्याधिकी भाँति ये दोष तीव्र गतिसे फैलते हैं। एक दुष्कर्मसे अनेक गंदी आदतोंकी वृद्धि होती है। जिस परिवारको इन निन्द्य वस्तुओंमें निस्सारता, क्षणभंगुरता, मलिनता दिखायी देती है, वह धन्य है। उसे चाहिये कि मनको इन भोगोंमें कभी भ्रमित न होने दे। चित्तको निरन्तर ईश्वर-चिन्तनमें, भगवान्‌की भक्तिमें लगाये रखे। इस प्रकार जो परिवार उच्च आध्यात्मिक विषयोंमें रमण करता है, वही अधिकतम संतोष, सुख और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

परिवारके लिये चारों वर्णधर्म आवश्यक हैं

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारोंके कर्तव्य महान् हैं। ब्राह्मण ज्ञान, विवेक, बुद्धि, समता, विनम्रताका अवतार है। वह ज्ञानार्जन करता है, विद्यादान

देता है, सत्पथपर अग्रसर होनेके लिये प्रेरणा प्रदान करता है। क्षत्रिय समाजकी रक्षा करनेवाला धीर, वीर, दृढ़प्रतिज्ञ सैनिक है। देशके ऊपर आनेवाली प्रत्येक आपत्ति और कठिनाईसे उसे युद्ध करना है। वैश्य देशकी सम्पत्तिमें वृद्धि करनेवाला, समाजकी आर्थिक सुव्यवस्थाको दृढ़ बनानेवाला कर्ममार्गी है। सेवा शूद्रका धर्म है। उसे बीमार, दीन, अशक्त, कोमल शिशु और वृद्धकी सेवा करनी है। किसी भी समाजकी सर्वतोमुखी उन्नतिके लिये ये चारों जातियाँ समान रूपसे कार्य करें, कोई अपने स्थानके इधर-उधर न जाय, यह आवश्यक है।

प्रत्येक परिवार और व्यक्तिके जीवनमें भी उपर्युक्त चारों वर्णोंके कर्मोंकी आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति अपने-आपको केवल एक ही काम करनेवाला समझे, तो वह गलती करता है। अपने परिवारमें आपको ब्राह्मणका कार्य करना चाहिये, अर्थात् अज्ञान दूर करनेके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। ब्राह्मणत्वका आदर्श है ज्ञानप्राप्ति, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, नि:स्वार्थ एवं विनम्र विद्यादान, जनताका शिक्षण, ईश्वराराधन। प्रत्येक मुखियाका यही कर्म सबसे पहले होना चाहिये। फिर क्षत्रियके समान परिवारपर आनेवाली प्रत्येक कठिनाई, विपत्ति, अड़चन, मुकदमा, बीमारीसे रक्षा करनेके लिये तैयार रहना चाहिये। क्षत्रियका कर्म सतर्कता, बुद्धिमत्ता, वीरता और धीरतासे निकट सम्बन्ध रखता है। उसमें वीरत्वकी भावनाकी प्रमुखता है। हमें क्षत्रियोंके समान कर्तव्य-पथपर चलना सीखना चाहिये, आत्मसम्मान और प्रतिष्ठाके लिये मर-मिटना चाहिये।

परिवारका आर्थिक पहलू वैश्यके हाथमें रहे। अर्थात् जब आप परिवारके लिये जीविका उपार्जन करने निकलें तो पूरे वैश्य बन जायँ। वैश्यको उन्नत बनानेवाले गुणोंमें मुख्य मितव्ययिता, व्यवसायी वृत्ति, विनम्रता, मिलनसारी, व्यावहारिक सभ्यता, मृदुल सामाजिक व्यवहार, दूसरोंका आदर-सत्कार, सचाई और मृदुभाषण हैं। इनमेंसे सतर्कतापूर्वक प्रत्येक गुणका विकास करना उचित है। इन गुणोंसे लक्ष्मीका मान होता है। हमें लक्ष्मीका मान धनके सदुपयोगद्वारा करना चाहिये। तड़क-भड़कका पहनावा, फैशन, पाश्चात्त्य सभ्यताका अंधानुकरण, जुआ, लाटरी, सट्टा, मद्यपान, चोरबाजारी, अपनी हैसियत बढ़ा-चढ़ाकर

दिखलानेकी दूषित वृत्ति, सिनेमा देखना, सैर-सपाटे, चटोरी आदतें, अनियन्त्रित रहन-सहन आर्थिक दृष्टिसे परिवारकी संचित शक्तिका क्षय करना है। वैश्योंके समान हमें अपने परिवारके लाभको सदैव दृष्टिमें रखना चाहिये।

शूद्रमें सेवा-भावनाका उच्चतम विकास है। सेवा-धर्मसे यह लोक तथा परलोक दोनों सुधरते हैं, आत्मविकास होता है। पूजनीय महात्माओंके सम्पर्कमें रहने तथा जीवनको उन्नत, परिपक्व और प्रतिष्ठित करनेका अवसर प्राप्त होता है। आत्म-नियन्त्रणकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो अपने परिवारकी सेवाके लिये शूद्रकी तरह दौड़ पड़ता है, छोटे शिशुसे लेकर वृद्धोंतककी निःस्वार्थ भावनासे सेवा करता है, वही महापुरुष है। सेवाभावसे मनुष्य दूसरोंके कल्याणके साथ अपना भी कल्याण कर सकता है।

इस प्रकार प्रत्येक परिवारकी उन्नतिके लिये चारों वर्णोंके धर्म नितान्त आवश्यक हैं। प्रत्येक परिवार और व्यक्तिके जीवनमें इनका उचित स्थान होना चाहिये।

गृहस्थ-धर्म एक योगसाधना है

गृहस्थ-धर्म एक योगसाधना है, जिसमें मनुष्यके ऊपर पग-पगपर उत्तरदायित्व एवं कर्तव्योंका भार है। यह आश्रम आगे आनेवाले एक कष्टसाध्य जीवनकी तैयारी कराता है। यदि इसमें रहकर हम इन्द्रियजन्य सुखोंकी निस्सारता, क्षणभंगुरता एवं नीरसता न जानें और सीधे वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लें, तो हमारी उस साधनामें वासनाओं और क्षुद्र इच्छाओंका ताण्डव चलता रहेगा।

गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमोंकी पुष्टिके लिये है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास—ये तीनों ही आश्रम गृहस्थाश्रमको व्यवस्थित और सुख-शान्तिमय बनानेके लिये हैं। ब्रह्मचारी इसलिये ब्रह्मचर्यका पालन करता है कि उसका भावी गृहस्थ-जीवन शान्तिपूर्ण और समृद्ध हो। वानप्रस्थ और संन्यासीलोग लोकहितकी साधना करते हैं। यह लोक या

संसारका सुख प्रकट करनेवाला गृहस्थधर्म ही है। यदि गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था बिगड़ जाय तो अन्य तीनों आश्रम ठीक रीतिसे नहीं चल सकेंगे।

गृहस्थाश्रमसे अहंका विस्तार होता है, आत्मभावकी सीमा बढ़कर उसमें परिवारके अन्य सदस्य भी आते हैं। छोटे-छोटे शिशुओंकी सेवा-शुश्रूषामें निःस्वार्थभावसे संलग्न होकर मनुष्य निजी स्वार्थोंका नाश करता है। खुदगर्जी नष्ट हो जाती है, आत्मसंयमकी लगाम लगती है। स्त्री, पुत्र, सगे-सम्बन्धी, परिजन, पड़ोसी, घरके पशु-पक्षी आदिमें आत्मीयता बढ़ जाती है। क्रमशः उन्नतिकी ओर हम चलते हैं। अन्तमें मनुष्य पूर्णतया आत्मसंयमी हो जाता है। दूसरोंके लिये अपनेको भूल जाता है। खुदी मिटती जाती है और खुदा मिलता जाता है। गृहस्थ-योगकी साधना जब अपनी विकसित अवस्थापर पहुँचती है, तब आत्मा परमात्मामें लीन हो जाता है।

गृहस्थ हमें तुच्छता और संकीर्णतासे महत्ता और उदारताकी ओर ले जाता है, स्वार्थका परिशोधन कर परमार्थ बना देता है। यदि गृहस्थधर्मके सब उत्तरदायित्वको पूर्ण करते रहें, स्वार्थको हटाकर परमार्थकी साधना करते रहें तो वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मीयताकी उन्नतिका अभ्यास करनेके लिये सबसे उत्तम स्थान अपना घर है। आत्मीयताके साधकको अपना दृष्टिकोण देने और सेवा करनेका बनाना पड़ता है। प्रेमकी उदार भावनाओंसे अपने अन्तःकरणको परिपूर्ण कर सगे-सम्बन्धियोंके लिये त्याग करना पड़ता है। इस आत्मीयताके प्रसारसे घर स्वर्ग बन जाता है।

गृहस्थका सोपान पार कर लेनेके पश्चात् जीवन-यात्राका एक नया चरण प्रारम्भ होता है। मनुष्यको प्रतीत होने लगता है कि सांसारिक सुखोंके आगे भी कोई चीज है। काम, क्रोध, लोभ, मोहसे भरे हुए जीवनसे उसे परितोष नहीं हो पाता। वह धीरे-धीरे आत्माके सुखद प्रदेशमें प्रवेश करता है। आत्माका प्रदेश वह मंगलमय संसार है, जहाँ इन्द्रियोंकी लोलुपताके आकर्षण और प्रलोभन नहीं हैं।

आत्मिक विकासकी चार कक्षाएँ

आध्यात्मिक विकासकी दृष्टिसे हम सम्पूर्ण मानव-समाजको निम्नलिखित चार स्तरोंमें विभाजित कर सकते हैं—

(१) साधारण मनुष्य।

(२) सुसभ्य मनुष्य।

(३) सुहृदय मनुष्य।

(४) आध्यात्मिक महापुरुष।

साधारण मनुष्य

साधारण मनुष्य मानव-जीवनके प्रथम-स्तरपर रहता है। वह विविध-विघ्न-बाधासंकुल जगत्‌की नाना प्रकारकी व्यथाओं, मानव-विकारोंद्वारा संचालित होता है। उसे केवल अधिकारोंका ही ध्यान होता है। आज संसार, देश, प्रान्त और घर-घरमें अधिकारोंका युद्ध हो रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे अधिकार माँग रहा है। साधारण मनुष्य दूसरोंसे अधिकारके लिये लड़ता है। झगड़े-टंटोंमें पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, वासना, स्वार्थमें निमग्न रहता है। साधारण मनुष्य संचयी होता है। वह हर प्रकारके संचय (धन, मान, जायदाद, वस्त्र, नाना वस्तुएँ, मकान)-में निरन्तर निमग्न रहता है। वह केवल इस लोकमें विश्वास करता है। अतः यहीं स्थायीरूपसे रहनेका इन्तजाम रखता है। द्वेष-घृणाके विकार उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर तरंगित करते हैं। वह परदोष-दर्शनमें विशेष दिलचस्पी लेता है। जब उसके स्वार्थोंपर धक्का पहुँचता है, तब वह पाशविक बलका प्रयोग करता है। पाशविक बलसे वह अपना दूसरेपर अधिकार रखकर अनुचित कार्य करना चाहता है। वह पशुसे कुछ ऊँचा होता है। उसमें बुद्धिका प्रयोग है, किंतु निज स्वार्थ तथा व्यक्तिगत लाभके बाहर उसका प्रयोग कम है। वह उसमें उलझा रहता है। उसके पास एक लंबा कुटुम्ब है। वह अपने कुटुम्बकी आवश्यकताएँ देखता है और उसकी पूर्तिमें अपनी सर्वोच्च शक्तियोंका ह्रास करता है। साधारण मनुष्यमें वासना तथा वासनाजन्य सुखाभास सबसे बड़ी कमजोरी है। इसीके कारण वह भोजनमें उत्तेजक पदार्थ

खाता है, स्पर्श, जिह्वा एवं श्रवण-सुखकी वासनाके जंजालमें लिपटा रहता है। कामवासनाकी पूर्ति तथा उसके कुफल भुगतनेमें उसका जीवन समाप्त होता है।

सुसभ्य मनुष्य

यह साधारण मनुष्यसे उच्च स्तरपर निवास करता है। इसे अपने अधिकार एवं कर्तव्य दोनोंका ध्यान रहता है। प्रत्येक अधिकार अपने साथ कर्तव्योंका भारी बोझ लाता है। यह कर्तव्य हमारी समूची शक्तियोंको अपने अंदर समाविष्ट कर लेता है। यदि हम अधिकार चाहते हैं, तो कर्तव्यका भी विवेक रखना होगा—यह विचारधारा सुसभ्य व्यक्तिकी है।

संचयके साथ उसे दानका भी पूर्ण विवेक होता है। संचयका सबसे उत्तम उपयोग यह है कि हम अपने लिये धनको काममें लें, पर साथ-ही-साथ दूसरोंकी आवश्यकताओं तथा सहायताका भी पर्याप्त ध्यान रखें।

वह घृणा-द्वेषसे ऊपर उठकर न्यायपर रहता है। न्यायका अर्थ वह व्यापक रखता है। उस न्यायमें जो ठीक है, वह उसे अपने लाभमें उपयोग कर सकता है। वह बुरा-भला दोनों देखता है।

सुसभ्य व्यक्ति समय पड़नेपर परिस्थितिके अनुसार शारीरिक बलका तो प्रयोग करता है, पर उसमें आत्मबल भी होता है। आत्मबलका भी प्रयोग वह किया करता है। आत्मबल विकसित होनेके पथपर होता है।

जहाँ साधारण व्यक्ति अशृंखल और हठी होता है, सुसभ्य व्यक्ति नीतिका पालन करता है। उसका व्यवहार विवेकमय होता है। वह तर्कपूर्ण नीतिमें विश्वास रखता है।

इस श्रेणीके व्यक्तिमें विद्याका उचित उपयोग रहता है। विद्या उसे कर्तव्यके साथ अधिकारका, बुराईके साथ भलाईका, शारीरिक बलके साथ आत्मबलका, नीतिके साथ विवेकका, न्यायके मार्गका अवलम्बन सिखाती है।

वासनाका उचित उपयोग वह किया करता है। प्रत्येक वासनाजन्य सुखका प्रभाव बुरा होगा, पर उससे मुक्त होना भी सम्भव नहीं। अतः उसमें कम-से-कम प्रवृत्त होना उसका काम रहता है। समाज तथा व्यक्तिके हितके अन्य

कार्योंमें, ललित कलाओं तथा ज्ञानार्जनमें उसका समय लगता है। उसकी वासना नियन्त्रित होती है।

सुहृदय मनुष्य

विकासकी तृतीय श्रेणीमें मानव अधिकारके स्तरसे ऊँचा उठकर केवल कर्तव्योंकी ही कामना करता है। वह संचयके स्थानपर दानको अधिक महत्त्व प्रदान करता है। न्यायके साथ-साथ दो और दैवी विभूतियोंका उदय उसके हृदयमें होता है—क्षमा और प्रेम। इन दोनोंके शुभ प्रकाशमें वह निरन्तर आगे बढ़ता है।

वह सबमें अच्छाई-ही-अच्छाई देखता है। परदोष-दर्शनकी संकुचित एवं त्रुटिपूर्ण भावनासे मुक्त होकर वह दूसरोंके गुणोंका, उत्तमोत्तम दैवी तत्त्वोंका विवेचन पसंद करता है। गुणोंमें विहार करनेसे वह स्वयं अमित गुणोंका स्वामी बन जाता है। उन गुणोंका बीज उसके मस्तिष्कमें प्रस्फुरित होता है। वह गुणनिधान होता है। उत्तम चरित्र एवं शारीरिक, मानसिक उत्साहका पुतला होता है।

वह केवल आत्मबलका प्रयोग करता है। उसकी आत्मामें बल क्रमशः वृद्धिपर रहता है तथा सत्, चित्, आनन्दका—जो उसकी आत्माके तत्त्व हैं, विकास इतना हो जाता है कि साधारण जगत्-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, दुःख उसे स्पर्शतक नहीं कर पातीं।

वह आत्मसंयमी होता है। अपनी वृत्तियोंपर उसे पूर्ण अधिकार होता है। वह दुःख या पीड़ा देखकर कातर एवं विह्वल नहीं हो जाता। वह जानता है कि दुःख अवश्यम्भावी है। उससे ऊँचा उठकर वह कुशल सारथिकी तरह वृत्तियोंको अपने काबूमें रखता है। उसका मन इतना सुसंचालित और सुशिक्षित होता है कि वह जो कुछ चाहता है, दृढ़ इच्छा-शक्तिके बलसे अवश्य पूर्ण करता है।

वासनाके पंजेसे वह दूर रहता है। वह वासनाका परिष्कार करके उसके प्रकाशके लिये ऊँचे सुसंस्कृत मार्ग प्रदान करता है। भक्तिभाव, भजन, कीर्तन, उच्च शास्त्रीय संगीत, सात्त्विक चित्रकारी, स्थापत्य, साहित्य-सृजन, कविता

इत्यादि सात्त्विक मार्गोंसे वह अपनी शक्तिका सदुपयोग करता है। उसकी भावना कर्तव्यके लिये उसे सतत प्रेरित करती है।

आध्यात्मिक महापुरुष

मानव होकर भी वह देवताकी श्रेणीमें उठता है। उसका सर्वप्रथम गुण प्राणिमात्रमें 'एकत्व' का अनुभव करना है। समग्र प्राणिसमुदायमें केवल एक ही सत्ताका प्रकाश है। एक ही आत्मभावमें आबद्ध हम समस्त प्राणी उसी तेज:पुंजकी रश्मियाँ हैं। जन्म, कुल, स्वभाव, जाति-पाँतिमें विभिन्न होते हुए भी आन्तरिक दृष्टिसे हम सब एक हैं। हमारा सम्बन्ध एक आत्माका है।

वह कर्म करता है किन्तु कर्मफलकी आशा नहीं रखता। फल मिले न मिले, लोग पसंद करें न करें, व्यक्तिगत हानि हो या लाभ—किसीकी परवा न करते हुए वह कर्ममें रत रहता है, अपने कर्मोंद्वारा ही संसारमें कुछ कर लेना चाहता है।

उसके हृदयमें सबके लिये विनय और सम्मान होता है। प्रत्येक प्राणीको वह अपने आत्माका स्वरूप समझता है। सर्वत्र आत्मभावका विस्तार करके अपने आत्माकी परिधिमें वह समस्त प्राणियोंको ले आता है।

'**सीयराममय सब जग जानी**'—सर्वत्र यही भाव रखनेवाला दार्शनिक संसारमें रहता हुआ भी कमलके पुष्पकी भाँति संसाररूपी जलसे निर्लिप्त रहता है। गृहस्थमें रहता हुआ भी वह अन्तर्वृत्तिसे उसकी शृंखलाओंसे उच्च स्तरपर निवास करता है। मानसिक विकारोंपर उसका पूर्ण प्रभुत्व तथा निग्रह होता है। वह भौतिक बलसे ऊँचा उठ जाता है। केवल ईश्वरीय बल (God-Power)- का प्रयोग करता है। आत्मबल वह बल है, जिससे सभी बल नीचे रह जाते हैं एवं जो विद्वान्‌की सभी शक्तियोंको पारकर मनुष्यकी आन्तरिक स्थितिपर अपना प्रभाव डालता है। इसका सूक्ष्म प्रभाव निरन्तर मनुष्योंके आन्तरिक केन्द्रोंपर पड़ता रहता है।

वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र होता है, क्योंकि बुराई उसके पास फटक नहीं सकती। उसके सभी कर्म सहज ही उच्च कोटिके होते हैं।

जैसे विद्यार्थी क्रमश: एक-एक कक्षा पार करके ऊँची कक्षाओंमें चढ़ता जाता है, उसी प्रकार हमें प्रयत्न करना चाहिये कि अपने विकास-स्तरको

क्रमशः ऊँचा उठायें। आज अपनी मनोभूमि जिस स्तरपर है, कल उससे ऊँचे स्तरपर पहुँचे—इसी प्रयत्नकी विभिन्न प्रक्रियाओंको 'आध्यात्मिक साधना' कहते हैं।

मनुष्यके दोष

वे कौन-से दोष हैं, जिनसे मानवका मन अशान्त, आत्मा अतृप्त एवं बुद्धि भ्रमित रहती है? किन-किन कारणोंसे वह अस्त-व्यस्त, दुःखी और परेशान रहता है? वे कौन-से शत्रु हैं, जो जीवको परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होने देते?

सर्वप्रथम 'नास्तिकता' नामका भयानक राक्षस है, जो मानवताका ह्रास कर रहा है। नास्तिकताके दृश्य हम स्थान-स्थानपर देख रहे हैं। ज्यों-ज्यों विज्ञान उन्नति करता जा रहा है, मानव सांसारिक ऐश्वर्यों, भोग-विलास, मिथ्या-प्रदर्शन, थोथी शानमें मानवताके पवित्रतम गुणोंका ह्रास करता जा रहा है। पुत्र पिताकी, छोटे बड़ोंकी और शिष्य गुरुकी मान-प्रतिष्ठाका ध्यान न रख निज स्वार्थोंका ही विशेष ध्यान रख रहे हैं। उचित-अनुचितका विवेक नष्ट-प्राय हो चुका है। इस जगत्का सुख लूट लें, आगे कुछ नहीं—यह भाव प्रायः आजकलके व्यक्तियोंमें देखा जा रहा है। ईश्वरकी सत्तामें किसीको विश्वास नहीं दीखता।

ईश्वरमें विश्वास न करनेवाला व्यक्ति उस आन्तरिक शान्ति, तृप्ति, संतोषका कभी अनुभव नहीं करता, जो भक्त परमेश्वरकी पूजा-अर्चनामें प्राप्त किया करता है। आप मानसिक बोझसे आक्रान्त हैं, दूसरे साथियोंने आपको अकेला छोड़ दिया है, कोई सहायक नहीं है, सब ओरसे निराश होकर आप परम प्रभु परमेश्वरकी ओर दृष्टिपात करते हैं; प्रार्थनामें आपको अमित शान्ति एवं उत्साह प्राप्त होता है। आप म्लान मुख लिये मन्दिरके अंदर गये थे, प्रसन्न और शान्त लौटते हैं। यह आपकी आस्तिकता (अर्थात् परमेश्वरमें विश्वास)-का ही पुण्य प्रताप है।

नास्तिक व्यक्ति उस आकाशबेलकी तरह है, जिसकी जड़ जमीनपर नहीं है। नास्तिक व्यक्ति कभी उस आन्तरिक संतोष और उत्साहका अनुभव नहीं कर सकता, जो ईश्वरमें विश्वास करनेवाला किया करता है। नास्तिकता जीवनका अन्धकार है, आस्तिकता जीवनका विद्युत्प्रकाश।

इसी प्रकार असत्य भी ऐसा दोष है, जो मनुष्यको दुःखी वनाता है। असत्यका तात्पर्य व्यापक है। जो कहना, उसीको कार्यरूपमें परिणत करना तथा जैसा करना, वैसा ही उच्चारण करना तो इसके अन्तर्गत है ही; इसके अतिरिक्त जीवन तथा व्यवहारमें खुली पुस्तकके समान आचरण करना भी इसमें सम्मिलित है। झूठा व्यक्ति यह समझता है कि कोई उसके असत्यको नहीं देखता या पकड़ता; किन्तु अन्तमें इसका वड़ा भयानक दुष्परिणाम होता है। उसे न आन्तरिक सुख प्राप्त होता है न स्थायी लाभ ही। अतएव जीवनमें असत्यका व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये।

जीवनमें क्रोध और आवेशसे भी वहुत हानियाँ होती हैं। क्रोधके समय मनुष्यकी शक्तियाँ पंगु हो जाती हैं। भले-बुरेका विवेक नहीं रहता। अनेक व्यक्ति आवेशमें जघन्य पाप, आत्महत्या, मार-पीट, खूनतक कर डालते हैं। अच्छे-से-अच्छे गुण भी क्रोधके आवेशसे दव जाते हैं। वर्षोंका किया-कराया काम क्षणभरमें मटियामेट हो जाता है। अतएव यथासम्भव क्रोधका परित्याग करना और शान्त बुद्धिका रखना भी आवश्यक है।

मानव-जीवनकी सफलता और विकासके लिये आस्तिक भावनाका प्रावल्य और असत्य एवं क्रोध-जैसे दुर्गुणोंका त्याग आवश्यक है। जो मनुष्य सुख चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त मार्गका ही अवलम्बन कर जीवनको सफल वनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

विषय-वासनामें लिप्त रहना

एक भयानक दोष विषय-वासनामें लिप्त रहना है। विषय-वासना मानवकी एक कमजोरी है। जब आप विषय-वासनामें लिप्त रहते हैं, आपका पशुत्व देवत्वपर राज्य करता है। काम-वासनाकी उग्रता पशुत्वका प्रतीक है। जिन व्यक्तियोंको वासनाके सुखके अतिरिक्त और कोई आनन्दका साधन नहीं

दीखता, वे बड़े अभागे हैं। उन्हें उच्च स्तरके पवित्र सांस्कृतिक आनन्दका कोई ज्ञान नहीं है। पशुके आनन्द कितने सीमित होते हैं—सुस्वादु भोजन, विषय-भोगमें रमण और क्षणिक सुख। यदि हम विषय-वासनामें ही लिप्त रहें और उच्चकोटिके बौद्धिक कार्योंमें बुद्धिको न लगायें तो हम पशुत्वकी श्रेणीमें ही पड़े रह जाते हैं।

मादक वस्तुओंका प्रयोग

इसी कोटिके आनन्द मद्य, तम्बाकू, गाँजा, भाँग, चरस इत्यादि भी हैं। संसारकी कठोरताओंसे भागनेके लिये मनुष्य इन दोषोंमें लिप्त होते हैं। पसीनेकी कमाई जो परोपकार, दीनसेवा, आवश्यक भोजन, वस्त्र, फल, मेवे, दूध, घृत इत्यादि लाभदायक कार्योंमें व्यय होनी चाहिये थी, उसे इन निन्द्य पदार्थोंमें व्यय करना भारी मूर्खता है।

एक ही व्यक्तिकी सम्मतिपर निर्भर रहना

एक दुर्गुण है—'केवल एक व्यक्तिकी सम्मतिपर निर्भर रहना' जो व्यक्ति केवल एक व्यक्तिकी सलाहपर निर्भर रहकर उसीके अनुसार कार्य किया करता है, वह मानसिक गुलामीसे आक्रान्त है, उसे स्वतन्त्र चिन्तन करना नहीं आता। दूसरे शब्दोंमें वह मानसिक दृष्टिसे शिशु ही बना हुआ है। उसके व्यक्तित्वका स्वतन्त्ररूपसे विकास नहीं हुआ है। ऐसा व्यक्ति कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। उसका मन शंका, मिथ्या, भय तथा अपने प्रति अविश्वाससे भरा रहता है। ऐसा व्यक्ति मानसिक दृष्टिसे पंगु है, उसमें आत्मविश्वासकी कमी है।

इस रोगसे मुक्ति पानेका सर्वप्रथम उपाय यह है कि खोये हुए आत्म-विश्वासको पुन: जमाया जाय। यह मनमें बैठाया जाय कि 'हम स्वयं अच्छा सोच सकते हैं' हममें स्वतन्त्र विचार करनेकी क्षमता है। हमें व्यर्थ अपनी शक्तियोंके प्रति अविश्वास नहीं करना चाहिये।' छोटे-छोटे कार्योंको स्वतन्त्ररूपसे करनेपर धीरे-धीरे, खोया हुआ आत्मविश्वास प्राप्त हो जाता है और मनुष्यकी मानसिक गुलामी जाती रहती है।

अयोग्य व्यक्तिकी सलाहपर कार्य करना

इसी प्रकारका एक दुर्गुण है—ऐसे व्यक्तियोंकी सम्मति लेना, जो सम्मति देनेके अयोग्य हों। जरा विचारकर देखिये—जो व्यक्ति वीर्य, विद्या, बुद्धि, संस्कार और चरित्रमें आपसे निम्न स्तरपर है या आपको आपकी समस्यापर सम्मति नहीं दे सकता, उसकी सम्मति आपके किस काम आ सकेगी? यदि आप उसके कहनेपर कोई अदूरदर्शितापूर्ण कार्य कर भी बैठे तो उसके परिणाम कितने भयानक होंगे? सम्मति लेनेसे पूर्व यह निर्णय कर लीजिये कि उस व्यक्तिको तद्विषयक ज्ञान भी है अथवा नहीं? क्या यह व्यक्ति उस विषयकी गहराइयोंको समझता है? उसका मत निष्पक्ष आपके व्यवहारानुकूल भी होगा अथवा नहीं? क्या इसे आपकी परिस्थितियों और शक्तियोंका भी ज्ञान है? इत्यादि। किसी एककी सम्मतिपर कार्य करनेसे पूर्व दो-चार अन्य व्यक्तियोंसे पूछकर निज मतका निर्णय कीजिये।

निर्णीत सिद्धान्तोंको छोड़ते रहना

अपने निर्णीत सिद्धान्तोंका क्षण-क्षण परित्याग करना मनुष्यकी अस्थिरताका सूचक है। आज आप कुछ कहते हैं, कल कुछ कहेंगे, फिर उसे छोड़कर किसी नवीन मार्गका अवलम्बन करेंगे, तो सोचिये जनता आपके विषयमें क्या कहेगी? अपने सिद्धान्तोंपर अविश्वास करनेवाला व्यक्ति समाजमें आदर नहीं प्राप्त करता। उसे बेपेंदीका लोटा समझा जाता है।

उचित तो यह है कि अपना मत या सिद्धान्त निर्णय करनेसे पूर्व पर्याप्त विचार कर लें, विशेषज्ञोंसे विचार-विमर्श कर लें। तत्पश्चात् सिद्धान्तोंका निर्णय करें। कई व्यक्तियोंकी सम्मतिपर विचार करके निर्णय करनेसे गलतीकी सम्भावना कम हो जाती है।

कार्यको मध्यमें त्याग देना

निश्चित किये हुए कार्यको बीचमें ही छोड़ देना एक मानसिक निर्बलता है। ऐसा व्यक्ति जल्दबाजी, मानसिक अस्थिरता और पलायन-प्रवृत्तिसे ग्रसित रहता है। इसमें एक कर्तव्य, एक तत्त्वपर दृढ़ रहने, एक निर्णयके प्रति श्रद्धा

तथा दृढ़ताका अभाव रहता है। महान् कार्य दीर्घकालमें सम्पन्न होते हैं। उस कालतक उनके प्रति सचाईसे डटे रहनेपर ही दीर्घकालीन योजनाएँ फलित होती हैं। शुभकार्यको अनन्त पीड़ाओं, कष्टोंके रहते अवश्य पूर्ण करना चाहिये।

दुर्भावपूर्ण कल्पनाएँ

कल्पनाके अनेक उत्तम उपयोग हैं—जिनके द्वारा चित्रकारी, कविता, साहित्य तथा ललित कलाओंकी सृष्टि होती है, मनुष्यकी दुष्प्रवृत्तियोंका परिष्कार होता है और उसकी सौन्दर्य-भावना विकसित होती है। शेक्सपियरने अपने नाटक 'जूलियस सीजर' में एक स्थानपर लिखा है कि जो व्यक्ति न हँसता है, न समाजके निकट सम्पर्कमें रहता है और न ललित कलाओं (संगीत, चित्रकला, अभिनय, वादन, नृत्य या साहित्य)-में अभिरुचि रखता है, वह व्यक्ति भयंकर है। वह चुपचाप अंदर-ही-अंदर नाना प्रकारके विचारोंमें संलग्न रहता है। यह सम्भव है कि वह व्यक्ति दुर्भावनापूर्ण कल्पनाओंका शिकार हो और हानि पहुँचा दे।

दुर्भावपूर्ण कल्पनाके अनेक स्वरूप होते हैं। यदि इसका दूसरे व्यक्तिपर आरोप किया जाय तो भले-से-भले व्यक्तिको भी गलत समझा जा सकता है। सामाजिक जीवनमें जो गलतफहमियाँ फैलती हैं, उनका एकमात्र कारण दूसरेके विषयमें दुर्भावपूर्ण कल्पनाएँ ही हैं। हम समझते हैं कि अमुक व्यक्ति हमसे ईर्ष्या करता है, हमारे व्यवहारमें त्रुटियाँ निकालता है, हमें हानि पहुँचायेगा, न जाने यह हमें कब हानि पहुँचा दे, इस व्यक्तिसे दूर रहना चाहिये इत्यादि। ये सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं। जिनका विषैला प्रभाव दूसरेके मन और वातावरण इत्यादिपर पड़कर गलतफहमी उत्पन्न करता है।

संसार एक दर्पण है

इस प्रकारकी दुर्भावनाओंका कारण आरोप (प्रोजेक्शन) है। आरोपसे अभिप्राय यह है कि जैसी भावनाएँ स्वयं हमारे अन्त:प्रदेशमें होती हैं, जैसा हम

स्वयं अपने बारेमें सोचते-विचारते या कल्पना करते हैं, उन्हींको दूसरेमें प्रतिबिम्बित देखते हैं। वे दुर्गुण—काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष-भाव स्वयं हमारे अंदर वर्तमान हैं; किन्तु हम अपने दोष न देखकर उन्हें दूसरे व्यक्तियोंपर आरोपित करते हैं।

अमुक आदमी खोटा है, हमसे शत्रुभाव रखता है—जब ये विचार आपके मनमें आते हैं, तब स्मरण रखिये आप अपनी इच्छाएँ, गुप्त मनोभाव, कल्पनाएँ दूसरोंपर लादनेकी चेष्टा कर रहे हैं। सावनके अंधेको हरा-हरा दीखता है—इस कहावतमें गहरा तथ्य है। हम स्वयं जैसे हैं, जैसे हमारे विचार या दृष्टिकोण हैं, जैसी हमारी अन्तर्वृत्ति है, हमारा जगत् भी वैसा ही है। जो स्वयं भले हैं, सबसे मैत्री, प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा एवं सौहार्दका भाव रखते हैं, उनके लिये संसारमें देवता बसते हैं। कोई उनका अपकार नहीं कर सकता। वे स्वयं फलते-फूलते हैं, दूसरोंका भी सदैव उपकार करते हैं। इसके विपरीत जो बुरे हैं, अनेक प्रकारकी खराबियोंसे परिपूर्ण हैं, वे दूसरोंमें उन्हीं दुर्गुणोंका दर्शन करते हैं, अर्थात् दूसरोंमें उन्हीं भावनाओंका आरोप करते हैं।

आरोप या अपने भाव दूसरेपर लादना

अपने दुर्गुणों या रुद्र गुणोंको दूसरोंमें आरोपित करना मानवका मनोवैज्ञानिक स्वभाव है। वह अपने इस स्वभावसे मुक्ति नहीं पा सकता। अतः संसारमें निज प्रतिबिम्बका ही अवलोकन करता रहता है।

जो दूसरोंकी नुक्ताचीनी करते हैं, उनमें तरह-तरहके दोष देखते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उनका अपना मन दोषपूर्ण है। ईर्ष्या, द्वेष, छिद्रान्वेषणकी प्रवृत्तिका अर्थ है कि मनमें बहुत दिनोंकी गंदगी इकट्ठी हो गयी है, इस गंदगीको दूर कर देना चाहिये। दूषित विचारोंका दूसरोंपर आरोप करनेसे संसार बुरा प्रतीत होता है।

जैसे हम हैं, वैसी ही हमारी दुनिया है

यदि आपको संसार त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है तो वास्तवमें आपको अपने अन्तःकरणका शोधन करना चाहिये।

सर्वप्रथम काम है। कामका मूल अभिप्राय आत्म-प्रभुत्व, अहंका विस्तार और अपने-आपको दूसरेमें उँड़ेलकर अमर रखनेकी भावना है। कामकी प्रवृत्ति इतनी शक्तिशालिनी है कि यदि ठीक देखभाल न की जाय तो यह मनुष्यको उन्मत्त कर देती है। उसे भले-बुरे, उचित-अनुचितका विवेक नहीं रहता। इच्छाशक्ति क्षीण हो जाती है। यदि यह प्रवृत्ति वासनाके रूपमें प्रकट होने लगे तो मनुष्य व्यभिचारकी ओर अग्रसर हो जाता है; अर्थ, धर्म, समाजका आदर, इज्जत सब कुछ खो बैठता है और कहींका भी नहीं रह जाता। अनेक मानसिक तथा शारीरिक रोगोंका शिकार होकर वह मृत्युको प्राप्त होता है। मृत्युका कारण काम-वासनाका होना नहीं है, नाशका कारण तो उसका दुरुपयोग है। अच्छी चीजका भी ठीक तरह उपयोग न किया जाय तो वह विष बन जाती है। इसी प्रकार कामका अनुचित उपयोग धर्म, कर्म, इज्जत-आबरू, स्वास्थ्य—सबको नष्ट करनेवाला है।

दूसरी है युद्ध-प्रवृत्ति। मनुष्य तथा पशु किसीसे दबना नहीं चाहते, वरं वे उन्नतिके लिये संघर्ष, युद्ध करना चाहते हैं। वे उत्तरोत्तर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरोंके सामने नीचा नहीं झुकना चाहते। 'महानता' की प्रवृत्तिमें रहना चाहते हैं। अपने-आपको दूसरोंसे ऊँचा, विकसित, श्रेष्ठ, मजबूत, श्रेष्ठतर सिद्ध करना सबका स्वभाव है। प्रत्येक पशुमें यह प्रवृत्ति प्रस्तुत है। मनुष्य अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रपंच करता है, षड्यन्त्रोंमें सम्मिलित होता है और अन्तमें लड़ मरता है।

तीसरी प्रवृत्ति भूख या क्षुधा है। क्षुधा निवारणके लिये हम हर प्रकारका कार्य करनेको तैयार हो जाते हैं। रुपया-पैसा कमाते हैं, व्यापार करते हैं, नौकरीके चक्रमें फँसते हैं। किसी कविकी उक्ति है—'अरे यह पेट पापी जो न होता, तो लंबी तानकर मैं खूब सोता।' मानव तथा पशुने भूखकी निवृत्तिके लिये युग-युगमें नाना प्रकारके कार्य किये हैं।

चौथी प्रवृत्ति है भय। पशु तथा मनुष्य भयभीत होकर शीघ्र ही आत्मरक्षाके उपाय करते हैं। आत्मरक्षाके लिये मनुष्यने नाना प्रकारके हथियार, औजार, हिंसात्मक चीजोंकी सृष्टि की है। जितने व्यक्ति व्याधिसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनसे कहीं अधिक केवल भयकी प्रवृत्ति, डरकी कल्पना, रोगोंकी भावनासे

मरते हैं। भयका विश्वास मनमें आते ही मनुष्य थर-थर काँपने लगता है, मृत्युकी बातें उसके मनमें डेरा जमाने लगती हैं। मृत्युके कारणोंकी यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे जाँच-पड़ताल की जाय तो विदित होगा कि अधिकांश व्यक्ति डरके भ्रमसे कालके ग्रास बनते हैं।

इन चारों प्रवृत्तियोंसे लड़ते-लड़ते मनुष्यको हजारों युग व्यतीत हो गये हैं। इन युगोंको हम सभ्यताका इतिहास कहते हैं। इन युगोंमें मनुष्यको पशु-श्रेणीसे उन्नत होनेमें बड़ी साधना और संयमसे काम लेना पड़ा है। अनेक अवसरोंपर उसे प्रलोभनसे बचकर भविष्यके लिये अपनी शक्तियाँ संगृहीत करनी पड़ी हैं। तुरंतके थोड़ेसे लाभको टालकर भविष्यके बड़े लाभकी चिन्ता करनी पड़ी है। यदि मनुष्य निरन्तर इन प्रलोभनों, आकर्षक विषयों, कामवासनाओंके हेतुओंको उच्च दिशामें विकसित न करता तो कदापि वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी न बन पाता।

मनुष्यने काम, युद्ध, क्षुधा और भय—इन चारों मूल प्रवृत्तियोंके विरुद्ध युद्ध किया और दीर्घकालतक किया। इस लम्बे युद्धके पश्चात् उसे नयी प्रवृत्तियाँ मिलीं, शील आदि गुण विकसित हुए। वह अनेक सिद्धियोंसे सम्पन्न परमेश्वरका श्रेष्ठतम पुत्र—राजकुमार बना। आदर्शवादकी नकारात्मक शब्दावलिमें इन चारों प्रवृत्तियोंको उसने निष्काम, निःशस्त्र, निरन्न, निर्भयके नये नाम दिये। इनके विकासको गुण माना गया। मनुष्यके चरित्रमें इनका प्रभुत्व विशेष आदरका पात्र हुआ। जिस अनुपातमें इनकी उन्नति हुई, उसी अनुपातमें मानव-संस्कृतिकी उन्नति हुई।

महात्मा गाँधीजीने इन चारों प्रवृत्तियोंको राजनीतिमें प्रविष्ट कराया। कामसे उन्होंने 'अनासक्ति' युद्ध-प्रवृत्तिसे 'अहिंसा', क्षुधासे 'उपवास' और भयसे 'असहयोग'को जन्म दिया। अनासक्ति, अहिंसा, उपवास, असहयोगको उन्होंने मानव-जीवनके दूरस्थ लाभके लिये आवश्यक तत्त्व समझा। इन चारों तत्त्वोंकी साधनासे मनुष्य पशुत्वसे ऊँचा उठकर देवत्वकी श्रेणीमें जा बैठता है। इन्हींके अभ्याससे उसका व्यक्तित्व स्थूलसे सूक्ष्म, भौतिकतासे आध्यात्मिकताकी ओर बढ़ता है।

काम-प्रवृत्तिका परिष्कार करनेके लिये ललित कलाओंका अभ्यास करना चाहिये। संगीत, कविता, चित्रकला, स्थापत्य, मूर्ति-कला इत्यादि ऊँचे स्वरूपोंसे काम-प्रवृत्तियाँ परिष्कृत होकर निकलती हैं। साथ ही भजन, पूजन,

ईश्वराराधन, धर्मग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। भक्त तथा संत कवियोंकी वाग्धारामें ऐसा मधुर साहित्य भरा पड़ा है, जिसमें अवगाहन करनेसे अमित शान्ति प्राप्त होती है।

युद्ध-प्रवृत्तिके परिष्कारके लिये मनुष्यको अपनी गंदी बातोंसे संघर्ष करना सीखना चाहिये। अपनी कठिनाइयों, दुर्बलताओं, परिस्थितियोंसे युद्ध करनेसे हम बहुत ऊँचे उठ सकते हैं। युद्ध करनेके लिये हमारे पास अनेक शत्रु हैं। यदि हम अपनी श्रेष्ठताका भाव दूसरोंमें जाग्रत् करना चाहते हैं तो हमें अपने शील, गुण, ज्ञान, अध्ययनद्वारा करना चाहिये। अपने विशुद्ध 'अहं' का विस्तार करना चाहिये। उसमें पशु-पक्षी, दीन-हीन व्यक्तियोंको सम्मिलित करना चाहिये। हम जितना सम्भव हो, दूसरोंको प्यार करें, उनके हितके लिये यथासम्भव प्रयत्न करें। उनका शुभ चाहें। दूसरोंसे हम जितना प्रेम करेंगे, उनके लिये जितना त्याग करेंगे, उतना ही इस प्रवृत्तिका परिष्कार होगा।

क्षुधा कई प्रकारकी होती है—भोजन, काम, प्रसिद्धि, यश, कीर्ति इत्यादिकी। इन सभीकी प्राप्तिके लिये मनुष्य विविध उद्योग करते हैं। पेटकी भूख मिटानेके लिये समस्त जगत् कुछ-न-कुछ करता है। प्रसिद्धिकी भूखके लिये वह नीति-अनीतितकका विचार नहीं करता, कामवासनाकी शान्तिके लिये वह उन्मत्त हो जाता है। अत: क्षुधापर संयम पानेके लिये हमें उपवासका अभ्यास करना चाहिये। उपवास आत्मविकास, आत्मशुद्धिकी एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। इसी प्रकार काम-वासनाके संयमके लिये ब्रह्मचर्यका अभ्यास आवश्यक है। उपवासके समय प्रार्थना, स्वाध्याय, भजन, ध्यान इत्यादि करने चाहिये। भयको दूर करनेके लिये साहस, शौर्य, पुरुषार्थ, शक्तिका विकास करना चाहिये। निराशा और चिन्ता, उद्वेग और आन्तरिक संघर्ष इसी विकारके अगणित परिणाम हैं। भयकी स्थितिके निवारणके लिये मनुष्यको सर्वत्र भगवान्की सत्ताका आन्तरिक साहसका उद्रेक करना चाहिये। आत्मा सदैव निर्भय है। वह परमेश्वरका अक्षय अंश है। उसे न कोई मार सकता है, न डरा सकता है। उसीका ध्यान करनेसे साहसका संचार होता है। भयको मार भगानेके लिये आत्मश्रद्धाकी आवश्यकता है, एकमात्र आत्मश्रद्धाकी। अपनी आत्माका प्रतिपादन करो, अपने अंदर उसका सच्चा स्वरूप अनुभव करो तो मनसे

अनात्म विपत्तियोंका आवरण हट जायगा। निर्भयताकी निम्नलिखित भावनापर मनको एकाग्र करो—

'मैं किसीसे नहीं डरता, भूलकर भी डरके जंजालमें नहीं फँसता। मैं स्वतन्त्र और मुक्त आत्मा हूँ। मेरी आत्मा सदा-सर्वदा निर्भय है। मैं भीतर-बाहर सब जगह आत्मदेवको देखता हूँ। घातक भयके भाव मेरे मन-मन्दिरमें उदय ही नहीं हो सकते। मैं आत्मापर पूर्ण विश्वास करता हूँ, मुझे अपने-आपमें असीम श्रद्धा है। मैं निर्भय रहनेका व्रत लेता हूँ।'

उपर्युक्त चारों विकारोंसे मुक्ति प्राप्त करो। स्वतन्त्र जीवन ही वास्तविक जीवन है। आत्मसंयमद्वारा ही वह प्राप्त हो सकता है।

गृहस्थमें संन्यास

भारतीय संस्कृतिमें राजा दशरथ, जनक, तुकाराम, नरसिंह मेहता—ऐसे श्रेष्ठ मानव हुए हैं, जिन्होंने गृहस्थमें रहकर संन्यासका दिव्य आदर्श जनताके समक्ष प्रस्तुत किया था। उनका समग्र जीवन गृहस्थमें रहकर वैराग्य-भावनासे परिपूर्ण था। उनके सांसारिक जीवनके अन्तरालमें आध्यात्मिकता प्रच्छन्नरूपसे वर्तमान थी।

वैराग्यकी आवश्यकता

संसार कर्मक्षेत्र है। सांसारिक जीवन कर्तव्य, उत्तरदायित्व एवं दुर्निवार संघर्षका आलोडन-विलोडनका क्षेत्र है। पग-पगपर मानवको चिन्तन एवं आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिद्वारा सृष्टिकी दुर्धर्षताका बोध होता है। संसारकी वस्तुओंके प्रति स्वार्थमयी संकुचित विचारधारा रखनेसे, अपनेतक ही नियन्त्रित रखनेकी दूषित भावनासे उनका दुरुपयोग होता है। इसके विपरीत उन्हें ईश्वरकी वस्तु मानकर धर्म, न्याय, उदारतापूर्वक उपयोग करनेसे उनका सदुपयोग होता है।

सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य करनेका तात्पर्य यह है कि आप उनका ठीक उपयोग करना सीखें। अपने घर, जन, रुपया-पैसा, विद्या, बुद्धिसे आप इतने न मिल जायँ कि स्वार्थवश उनका उचित उपयोग भी न कर सकें। उन्हें अपने काममें लाइये तथा दूसरोंके हितके लिये व्यय कीजिये। धनका निरन्तर संग्रह

करनेवाला मूढ़ व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे इस सांसारिक वस्तुसे पृथक् हो जाना है; बड़े-बड़े आलीशान मकान, महल, कोठियाँ, दूकानें बनवानेवाले धनपति सेठ नहीं जानते कि उन्हें इन तमामको छोड़कर अकेले खाली हाथ चल देना है। बड़ी कीमती मोटरों, गाड़ियों, हवाई जहाजोंमें सफर करनेवाले व्यक्ति नहीं जानते कि उनकी मिट्टी ज्यों-की-त्यों राखमें मिल जायगी। एक ओर जगत्‌की यह क्षणभंगुरता है, दूसरी ओर जगत्‌का छल-छद्म, मिथ्याचार, छीना-झपटी और संघर्ष तथा भीषण रक्तपात एवं अहंभावका विध्वंसकारी विस्फोट! सब कितना निःसार है, परंतु कितना भयानक है!

ईश्वरकी वस्तु समझकर उपयोग करें

वैराग्यका समस्त तत्त्व निष्काम कर्मयोगमें छिपा हुआ है। मानव-जातिके सबसे महान् दर्शन-ग्रन्थ गीतामें निष्काम कर्मयोगकी शिक्षापर ही बल दिया गया है। गृहस्थ रहकर आप कर्म करते जाइये। कर्म करना आपका कर्तव्य है। कर्तव्यके बिना जीवन नहीं है, लेकिन शर्त यह है कि आपका यह कर्तव्य निष्काम हो अर्थात् इसके साथ नाना प्रकारकी छोटी-बड़ी समीप या दूरकी स्वार्थमयी भावनाएँ जुड़ी हुई न हों। इच्छाएँ न हों। चिरकाल-पश्चात् इनसे लाभ उठानेकी भावना न हो। व्यर्थके मोहचक्रमें आप न फँसे रहें।

प्रायः कुछ महानुभाव कहा करते हैं कि हमें संसारसे मोह नहीं है, हम वीतराग हैं। किंतु फिर भी कोई धन-संग्रहमें, कोई मिथ्या नामवरी, प्रशंसा या वासनामें लिप्त रहता है। जन-समाज यह नहीं सोचता कि इस क्षणभंगुर जगत्‌में वह इन झूठे खिलौनोंसे कबतक खेलता रहेगा। वृद्धजनतक अपने-आपको आवश्यकताओंका इतना दास बनाये रहते हैं कि एक दिन पान, बीड़ी, सुँघनी, चाय, सिगरेट, हुक्का, स्वादिष्ट भोजन या वासना-पूर्तिका साधन न मिले तो तिलका ताड़ बना देते हैं। वृद्ध होकर भी उनकी भावनाएँ बच्चों-जैसी ही रहती हैं।

सबसे बड़ी गुलामी

जिस मानवके जीवनकी आवश्यकताएँ (शृंगार, जिह्वाकी लोलुपता, वासना इत्यादि) बढ़ती रहती हैं, वह सबसे बड़ा गुलाम है। उसकी गुलामीका अन्त

नहीं है। यदि एक वस्तु भी उसे प्राप्त न हो तो वह मानस-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो व्यक्ति नफासत, नाजुकखयाली, बाहरी लिफाफा बनाने या मिथ्या प्रदर्शनद्वारा दूसरोंपर अपनी शान जमानेमें संलग्न रहता है, वह आध्यात्मिक उन्नति कदापि नहीं कर सकता और जब आध्यात्मिक उन्नति नहीं, तब आन्तरिक सुख-शान्तिकी भी आशा दुराशामात्र ही है। उसका जीवन निम्नस्तरका है। जो सदा अपनेमें ही लिप्त है, जिसे अपने भोजन-वस्त्र, बाल-बच्चोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता, वह संसारमें बुरी तरह लिप्त है। जो संसारमें जितना लिप्त है, वह उतना ही दु:खी है। सांसारिक लिप्तताका तात्पर्य यह है कि आप स्वयं अपने ही स्वार्थोंमें बहुमूल्य जीवन नष्ट कर रहे हैं। ऐसा सांसारिक जीवन समाज, देश, जाति, मानवताके किसी अर्थका नहीं है। इस संकुचित मनोवृत्तिका जितनी जल्दी बने त्याग कर देना ही उचित है।

आपने कितनी स्थायी वस्तुओंका संग्रह किया है?

अपने इर्द-गिर्दकी वस्तुओंपर विचार करके देखिये कि कितनी स्थायी चीजोंका संग्रह आपने किया है। अपने मकानको ही लीजिये। इस मकानकी भूमिपर असंख्य वर्षोंसे न जाने किस-किसका अधिकार रहा होगा। यदि आपने इसे खरीदा है तो इससे पहले न जाने इसके कितने मालिक हो चुके हैं। आपकी मृत्युके पश्चात् यह आपके पाससे चला जायगा। जितने दिन जीवित हैं, उतने दिन इसमें रह लीजिये। तत्पश्चात् यह दूसरेका है। इसमें लिप्त होना या इसे अपना समझना झूठी आत्मवंचना है।

अपने पुत्र-पुत्रीको देखिये। पुत्रीका विवाह होनेके पश्चात् आपसे बिलग होना अवश्यम्भावी है। पुत्र भी पृथक् ही रहकर व्यापार या नौकरी करेगा। आपके साथ न रहेगा। जिसे आप अपनी पत्नी कहते हैं, यह स्त्री किसीकी पुत्री है। उसीके पास प्रारम्भमें रही है। कुछ वर्षोंके लिये इससे आपका संसर्ग है। यह भी आपसे पृथक् हो सकती है। अपने धनको देखिये। जो रुपया आज आपके हाथमें आता है, वह कल दूसरेके हाथमें था। संयोगसे आज आपके हाथमें आ गया। उसका आपके हाथसे निकलकर दूसरेके हाथमें जाना निश्चित ही है। लक्ष्मी स्वभावसे ही चंचला है, दूसरेके पास जाना इसका धर्म है। फिर आप क्यों इसपर जीवनकी नींव रखते

हैं? धन, जन, जीवन, जायदाद—सब मिथ्या है, यह बड़ा भ्रम है, यह ऐसा मोहजाल है, जो आपकी वास्तविक आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक है।

वैराग्यका रहस्य—निष्काम कर्मयोग

जीवन विकासके लिये संसारसे पृथक्—निर्लिप्त रहना ही श्रेष्ठ है। संसारके पदार्थोंकी नश्वरताको समझिये। नश्वरता समझते हुए पृथक् रहकर उनका उपयोग करते चलिये। यह सावधानी रखिये कि सांसारिकता या दुनियादारीमें आप ऐसे न फँस जायँ; जैसे सूअर कीचड़में लिप्त हो जाता है। वासनाके कीड़े न बनिये। अपने शुद्ध अहंका विस्तार करते चलिये; परमार्थमें स्वार्थ घोलते चलिये, अपने लिये कम, दूसरेके लिये ज्यादा उदारता अपनाइये। अपने अहंका विस्तार ही सर्वोच्च धर्म है। अहंको संकुचितकर स्वार्थमें लिप्त रहना घृणित है। धर्मके समस्त अंग इसीमें आ जाते हैं। त्याग, सहानुभूति, प्रेम, दया, उदारता आदि दिव्य सम्पदाएँ ही धर्मकी सच्ची किरणें हैं। इनसे ही मनुष्य वास्तविक 'मनुष्य' बनता है।

जिस व्यक्तिको अन्तर्ज्ञान हो जाता है, वह संसारके मोह-जाल तथा मिथ्या आवरणसे मुक्त हो जाता है। हमें चाहिये कि आत्माकी महान् शक्तियोंपर अपनी मानसिक और बौद्धिक शक्तियाँ केन्द्रित करें। आपका घर, गृहस्थी, ऐश्वर्यकी नाना वस्तुएँ बाह्य मिथ्या प्रदर्शन ऐसी बेड़ियाँ हैं, जिनमें बँधकर आप आन्तरिक सम्पदाओंको समझनेका प्रयत्न ही नहीं करते, बाह्यकी भाँति नाना आन्तरिक शंकाएँ आपके पासतक आपकी आत्मज्योतिका प्रकाश नहीं पहुँचने देतीं। जो व्यक्ति ब्रह्मनिष्ठ है, उसके लिये मिथ्या जगत् उसकी इच्छाएँ तथा तज्जनित विकार कोई सत्ता नहीं रखते। वह इच्छाशून्य निर्विकार अवस्था है। अहंभाव जिससे आपका संसार है, वह भी दूर होकर सर्वशून्य अवस्था आती है।

इस सर्वशून्य अवस्थाके अनुभवका वर्णन करते हुए चीनी अध्यात्मवादी ह्यूमिंग विंग कहते हैं—

'तुरीयावस्थामें आन्तरिक जीवन एक दिव्य प्रकाशसे परिपूर्ण हो उठता है। हम एक-दूसरेको भूलकर 'अहं' से ऊपर उठ जाते हैं। आन्तरिक खोखलापन मिट जाता है और उसमें दिव्य प्रकाश भर जाता है। जगत्की वासना-तरंगोंसे क्षुभित समुद्र प्रशान्त हो जाता है। चिन्ताके काले बादल दूर होकर अन्त:करण

प्रशान्त नीलाकाशकी भाँति देदीप्यमान होने लगता है।'

ऊपर जिस एकाकीपनका उल्लेख है, वह वैराग्यकी चेतनाका महत्त्व प्रदर्शित करता है। इसमें जगत्से दूर रहनेकी भावना ही प्रधान है। इस अवस्थाको प्राप्त व्यक्ति संसारमें रहकर यहाँकी वस्तुओंको एक अन्तर्दृष्टिसे देखता है। वह उनके क्षणिक, विकारमय ऊपरी धरातलपर ही नहीं टिक जाता, वरं सांसारिक वस्तुओंके अन्तस्तलमें प्रविष्ट होकर जीवनको देखता है। शरीर धारण करनेके नाते उसे सांसारिक कर्तव्यकी पूर्ति करनी पड़ती है; पर स्वरूपतः वह वीतराग ही होता है।

एक प्रसिद्ध अध्यात्मवादीके शब्दोंमें गृहस्थोंके लिये कितना गूढ़ संदेश छिपा है—'नश्वर संसारकी क्षणभंगुरता देखिये और वैरागी बनिये। 'वैरागी' का अर्थ है—संसारके पदार्थोंकी नश्वरताको समझते हुए उनका उपयोग विकास-धर्मकी पूर्तिके लिये परमार्थमें करना। स्वार्थको, लोभको, तृष्णाको कम करके परमार्थके विचार और कार्योंमें निरन्तर लगे रहना ही सच्चा वैराग्य है।'

आध्यात्मिक शान्तिके अनुभव

आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होते हुए मुझे जो प्रत्यक्ष अनुभव हुए हैं, उन्हींके स्पष्टीकरणके हेतु यह विवेचन लिख रहा हूँ। आशा है उन्नतिके पथपर चलनेवाले अन्य पथिकोंको भी इससे कुछ लाभ होगा। मेरा अपना तो यह विश्वास है कि इन सूत्रोंसे प्रायः प्रत्येक व्यक्तिको ही थोड़ा-बहुत लाभ अवश्यमेव होगा।

आप संसारके काँटे नहीं बीन सकते

कुछ वर्ष पूर्व मैं एक बोर्डिंग हाउसका सुपरिटेंडेंट था। विद्यार्थियोंका उचित निरीक्षण करना, उन्हें सन्मार्गपर चलाना, प्रातःकाल शीघ्र उठनेकी आदत डालना; सिनेमा, सिगरेट, बकवास, समयकी बरबादी, रुपयेकी होली फूँकना—इत्यादि-इत्यादि अनेक बातोंसे उनकी भरसक रक्षा करता। एक पिताकी हैसियतसे विद्यार्थिसमुदायको प्रत्येक अनुचित कार्यसे रोकता । मैंने कुछ मास

पश्चात् देखा कि यद्यपि ७५ प्रतिशत लड़कोंमें उन्नतिकी महत्त्वाकांक्षाएँ प्रदीप्त हुईं; पर कुछ ऐसे रह ही गये, जो अनेक दुष्कर्मोंमें रत रहे। इन कुमार्गपर चलनेवालोंको ठीक पथपर लानेके लिये मुझे अनेक यत्न करने पड़े। अन्ततः एक-दो ही व्यक्ति ऐसे रहे, जिन्हें मैं कुमार्गसे न हटा सका।

प्रत्येक कुपथगामीको देखकर मेरे मनमें पीड़ा होती, व्यग्रता होती और कभी-कभी क्रोध भी आता। मैं स्वयं अपना सुधार कुछ भी न कर सका, उलटे अशान्तिका दावानल मेरे अन्तःकरणमें जलने लगा। आज मैंने सीखा है कि मनुष्य वास्तवमें किसी दूसरेका सुधार नहीं कर सकता, न दूसरोंकी उन्नतिका उत्तरदायित्व ही अपने ऊपर ले सकता है। उसे दूसरोंका सुधार करनेकी धुनमें न पड़कर स्वयं अपना सुधार करना चाहिये। वास्तवमें दुःखका कारण दूसरोंके दुःखों, कष्टों, न्यूनताओं, कमजोरियों और छिद्रोंको देखना ही है। संसारमें हजारों पुरुष ऐसे दुष्कर्मी हैं कि हम उनका सुधार नहीं कर सकते। उनकी कमजोरियोंको हटानेके चक्रमें पड़कर कहीं हम अपना पतन न कर लें, यह हमें स्मरण रखना चाहिये।

दूसरोंपर दोषारोपण करके हम अपनेको अँधेरेमें ही रहने देते हैं, अपनी निर्बलताओंपर चादर ढक लेते हैं। अमुक व्यसन दूर हो जाय, अमुक व्यक्तिका अमुक दुर्गुण जाता रहे, फलाँ बुरी आदत छूट जाय, तम्बाकू, बीड़ी, शराब छूट जाय—ऐसी बातोंको मनमें बार-बार आने देनेसे अशान्ति उत्पन्न होती है।

कोई भी क्षुद्र और निकृष्ट विचार मनमें आरूढ़ हो जानेपर पतन होता है। इसी प्रकार मैंने स्वयं अनुभव किया है कि जो मनुष्य अपना संकल्प बार-बार बदलता है, वह वास्तवमें कुछ नहीं कर पाता। मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि दूसरोंकी सम्मतिसे अपना निश्चय नहीं बदलना चाहिये।

अपनेसे नीचेवालोंको देखिये

हमसे ऊँची जगहों, पदों, स्थानोंपर संसारमें अनेक व्यक्ति हैं। प्रत्येक व्यक्ति यदि यही चाहने लगे कि हम सम्राट् बनें; बड़े धनी, अमीर, उच्च पदाधिकारी बनें; हमें ढेरसे रुपये मिलें; मोटर, आलीशान कोठी, सुन्दर वस्त्राभूषण—सो यह कहाँ सम्भव है।

प्रत्येक व्यक्ति उच्चाधिकारी नहीं बन सकता; प्रत्येक व्यक्ति आलीशान

कोठी, मोटरकार, नौकर नहीं रख सकता; प्रत्येक सुन्दर वस्त्राभूषणसे अपना शरीर अलंकृत नहीं कर सकता। आप जितना ही इन चीजोंको पानेकी कामना करेंगे, उतने ही अशान्त, दु:खी रहेंगे।

अपनेसे नीचेवालोंको देखिये, उन्हें भरपेट भोजन भी नहीं मिलता। और आप कितने भाग्यशाली हैं कि दो समय इज्जतसे भरपेट भोजन कर लेते हैं। कितने ही आपही-सरीखे मनुष्य सड़कोंपर पड़े ठिठुरते हुए रात्रि व्यतीत करते हैं। नंगे, उघाड़े, क्लान्त पड़े रहते हैं और आप घरपर मजेमें रात्रि व्यतीत करते हैं। आप कितने भाग्यशाली हैं!

शफाखानेमें जाकर देखिये। कितने रोगोंके मरीजोंका ताँता बँधा है! कोई खौं-खौं करके खाँस रहा है तो कोई हाय-हाय करके कराह रहा है; किसीके नेत्रोंमें भयंकर रोग है तो कोई मूत्ररोगसे विह्वल है। किसीका ऑपरेशन किया जा रहा है और रक्त, पीबकी धार बह रही है। आपके पास स्वस्थ शरीर है, हाथ-पाँव चलते हैं, खाना उचित समयपर पच जाता है; कब्ज, बवासीर, खाँसी आपको नहीं है; आपका चेहरा मधुर मुसकानसे हरा-भरा है। सचमुच आप कितने भाग्यशाली हैं।

जो कुछ आपके पास है, वह आवश्यकतासे अधिक है; जो नहीं है, उसके बिना भी आपका कार्य भलीभाँति निर्विघ्न चल सकता है। जब हम अपनेसे अधिक दु:खी, संतप्त दुनियाको देखते हैं तो सचमुच हमें प्रतीत होता है कि वास्तवमें हम भी बड़े भाग्यशाली हैं।

दूसरोंसे कुछ प्राप्तिकी आशा मत रखिये

अशान्तिका मुख्य कारण यह है कि नित्यप्रतिके व्यवहारमें हम दूसरोंसे बहुत अधिक सहानुभूति, प्रेम-प्राप्तिकी आशा रखते हैं। अमुककी हमने अमुक अवसरपर भलाई की थी, अब इस अवसरपर वह हमारी तरफदारी करेगा, लाभ पहुँचायेगा, कुछ अर्थ प्राप्त करा देगा, हमारा विशेष खयाल रखा करेगा, ये सब ऐसी थोथी आशाएँ हैं, जो इस कठोर संसारमें बहुत कम पूर्ण होती हैं। आप जिनसे उम्मीद बाँधे रहते हैं, वे ही आपका पेट काटते हैं, तकलीफें देते हैं, कन्नी काट लेते हैं, सहायता नहीं करते।

अतः आप दूसरोंसे कुछ भी प्राप्त करनेकी आशा न रखिये। आपकी कोई सहायता नहीं करेगा; आप स्वयं ही अपने लिये जो चाहें कर सकते हैं। यदि दूसरे आपके लिये कुछ कर दें तो यह उनकी उदारता है। यदि उनसे प्राप्तिकी आशा न रखकर आप उनकी सहानुभूति पायेंगे तो वह आपको बहुत भारी मालूम होगी। आप तो यह मानिये कि हम स्वयं ही अपने लिये हैं, दूसरा कोई साथी नहीं है। दुनियाका लंबा रास्ता हमें स्वयं ही तय करना है।

आपका सबसे बड़ा सहायक

आपको अपना लाभ स्वयं सँभालना होगा। दुर्बलताओंको अपने हृदयसे स्वयं बाहर निकाल फेंकना होगा। अपनी शक्तियोंमें श्रद्धा जाग्रत् करनी होगी। जब आप दोषदर्शी स्वभावसे मुख मोड़कर स्वयं अपनी दुर्बलताओंको दूर करनेका प्रयत्न करेंगे, तभी भीतरसे परिवर्तन प्रारम्भ होगा।

मनुष्यको अपनी दुर्बलताओंको दूर करनेके लिये प्रतिदिन उद्योग करना चाहिये। निरन्तर प्रयत्न, उद्योग, सतत अध्यवसायसे वे दूर हो सकेंगी।

बड़े सावधान रहें

जिस व्यक्तिको धन, सम्पदा, मान, बड़ाई और ऊँचे-ऊँचे पदोंकी अतृप्त आकांक्षा नहीं विचलित करती किंतु जो कुछ उसके पास है, उसीमें जो संतुष्ट-प्रसन्न रहता है और उसके छिन जानेपर भी शोक नहीं करता, वही वास्तवमें सच्चा कर्मयोगी है; परंतु जिसे लगातार 'और मिले, और मान-बड़ाई प्राप्त हो' ऐसी अतृप्ति बनी रहती है, जिसे जो कुछ उसके पास है, उसपर संतोष नहीं है और जो दूसरेको हड़प जानेके लिये हाथोंको खूनसे रँजित करता है, वही यथार्थमें मूर्ख और अज्ञानी है।

जिस साधकने अपने स्वार्थको तिलांजलि देकर मनको शुद्ध कर लिया है और जो यह समझता है कि मेरा कोई शत्रु नहीं है, जो ध्यानावस्थित हो अपने भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको देखता है, वही ज्ञानी है।

जीवनमें आगे बढ़ना चाहते हैं तो दूसरोंपर मत निर्भर रहिये, स्वयं अपनी विशेषता प्रदर्शित कीजिये। आपको अपना बोझ स्वयं ही ग्रहण करना पड़ेगा। दूसरा कोई भी व्यक्ति इस कर्मक्षेत्रमें आपका साझीदार नहीं बनेगा।

आत्माको आध्यात्मिक आहार दीजिये

अपनी इन्द्रियोंकी विविध आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये तुम अनेक प्रयत्न करते हो, शृंगारके लिये छटपटाते हो, क्षुद्र वासनाओंकी तृप्तिके लिये सदा सचेष्ट रहते हो, किंतु अपनी आत्माको आध्यात्मिक आहार देनेमें कितना समय देते हो?

यदि तुम अक्षय शान्ति चाहते हो, अविलम्ब चाहते हो, पूर्णरूपेण चाहते हो तो व्यर्थके शृंगार तथा वासना-पूर्तिके मार्गसे हटकर, अपने मनको, बुद्धिको तथा इन्द्रियोंको समस्त सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर हृदयमें स्थित परमात्मामें लीन कर दो। अपनी आत्माको परम आत्मामें विलीन कर दो। अपने अन्तः-करणमें प्रवेश करो तथा बाह्य जगत्के ऊहापोहसे बचो।

'काया, वचन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, आत्मा अथवा प्रकृतिसे जो-जो मैं कहता हूँ, मैं अपने जो भी कार्य करता हूँ, वे सब हृदय-स्थित देवाधिदेवके ही अर्पण करता हूँ। वास्तविक सुखका भंडार तो परमात्मा ही है। वह परमात्मदेव मेरे अन्तरमें अपनी सम्पूर्ण कलाओंसहित विद्यमान है। उस करुणा-वरुणालयकी दिव्य ज्योतिका प्रकाश मेरी आत्मासे बाहर निकल रहा है'—इस प्रकारकी भावना मनमें आरूढ़ करो, इसीका पुनः-पुनः उच्चारण करो, इसीमें निवास करते रहो। इसका नतीजा यह होगा कि तुम धीरे-धीरे मनकी एक उत्कृष्टतम भूमिकापर स्थित होकर सारी निर्बलता, दुःख, विपत्तियोंसे स्वतः मुक्त हो जाओगे।

ज्यों-ज्यों मनुष्य इस दैवी भूमिकामें प्रवेश करता है, त्यों-त्यों उसे ऐसा अनुभव होता है, जैसे वह दुनियाके जालसे मुक्त होकर उच्च स्थितिमें प्रवेश कर रहा है। उसे ज्ञात होता है कि अब संसारके माया-जालसे उसे कुछ सरोकार नहीं। उसे तो दैवी सम्पदाएँ एकत्रित करनी हैं।

आध्यात्मिक विजय ही स्थायी होती है। उसीके आधारपर किये गये कार्य स्याथी महत्त्व रखते हैं। उसी दैवी तत्त्वके प्रकाशसे महान् कार्य सम्भव हो सकते हैं।

हर्षका विषय है कि मानव-जाति अब क्रमशः दैवी तत्त्वके साक्षात्कार और उसके द्वारा सम्पन्न महान् कार्योंकी सिद्धिके मर्मको समझने लगी है।

उसे ज्ञात होने लगा है कि उसकी शक्ति, उसकी विजय, उसके सामर्थ्योंका परिमाण वही होगा, जिस परिमाणमें वह अखिल सामर्थ्योंके भंडारसे अपना तादात्म्य स्थापित कर सकेगी।

जब परमात्माका दैवी प्रकाश हमारी आत्मामें प्रवेश करता है, तब हमें अनन्त शान्तिका अनुभव होता है। दसों दिशाओंमें स्थायी सुख दृष्टिगोचर होने लगता है। यही ऊँची अवस्था है, जिसकी प्राप्तिकी इच्छा प्रत्येक साधकके मनमें रहनी चाहिये। यही आध्यात्मिक सुख है। परमात्माके विचारमें मतवादोंकी ज्वाला नहीं, क्षुद्रता नहीं, संकीर्णता नहीं; अनन्त प्रेम, आत्मभाव, पवित्रता, सहानुभूति और सौजन्य है। परमात्माके विचार, दैवी-तत्त्वसे एकताके विचार और उच्च सत्तासे सम्बन्ध स्थापित करना ही आध्यात्मिक आहार है। आत्माको यही आध्यात्मिक आहार दीजिये। इसीको पाकर हमारी आत्मा नवराष्ट्रका निर्माण करनेयोग्य बनेगी।

भगवान्‌को जगाओ

'भगवान् सोते थे, परंतु तुलसीदासके लिये जाग गये। भगवान्‌की यह विशेषता है कि उन्हें तनिक-सा भी कोई जगाने आये तो वे तुरंत जाग जाते हैं।'

प्रत्येक मानवका मन भगवान्‌का निवास-स्थान है। वे उस मनमें सोये रहते हैं, वे उसमें मौजूद हैं। जो यह कहता है कि उसके मनमें उनका निवास-स्थान नहीं है, वह गलती करता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, उच्च या निम्न वर्ग—सभीके हृदयमें परमेश्वरका निवास है। जिसको हम अन्तरात्माकी आवाजके नामसे पुकारते हैं, वह परमेश्वरकी ही ध्वनि है। जब आप कोई गंदा कार्य करते हैं, तब आपको मन-ही-मन आत्मग्लानिका अनुभव होता है। आप पछताते हुए कहते हैं कि 'आपको ऐसा गर्हित कार्य न करना चाहिये था।' अन्तर्ध्वनि प्रत्येक अशुभ, असुन्दर, अनैतिक कार्यके पश्चात् होनेवाली नैतिक प्रतिक्रिया है। जिस व्यक्तिके मनमें आत्माकी यह आवाज उठती है, उसके परमेश्वर जागे हुए हैं।

चोरी करनेवाले, झूठ बोलनेवाले, धोखा-छल-फरेब करनेवाले; कामी, क्रोधी, दम्भी, ईर्ष्यावान् व्यक्तिके भगवान् सोये हुए हैं। पापी व्यक्तिमें परमेश्वरका अस्तित्व है, किंतु उसके परमेश्वर प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हैं। उसे इसका भान नहीं है कि ईश्वरीय तत्त्व उसमें मौजूद है। यदि किसी प्रकार उसे यह विदित हो जाय कि उसके ईश्वर सोये हुए हैं तो वह उन्हें जगा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भगवान्‌को जगा सकता है। उसके मनमें सत्पथपर अग्रसर होनेकी इच्छामात्र होनी चाहिये। यदि वह सत्-ज्ञानका संग्रह करने लगे, सन्मार्गका पथिक बन जाय, सत्संग-सच्चिन्तन करने लगे, मनमें पवित्र संकल्पोंको धारणकर शुभ कार्योंमें निरत हो जाय तो निश्चय ही वह अपने भगवान्‌को जगा सकता है।

भगवान् क्या हैं? आपकी अन्तरात्मामें जो शुभ संकल्प, सद्भावनाएँ, सत्परामर्श उदित होते हैं, वे भगवान्‌के स्वरूप हैं। आप जब अपने स्वार्थोंको त्यागकर परमार्थके चिन्तनमें लीन होते हैं, तब आप भगवान्‌के प्रतिनिधिस्वरूप रहते हैं। जब आप दीन-दुःखियोंकी सहायताके लिये दान देनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब आप भगवन्मय होते हैं। प्रत्येक अच्छा विचार, सद्भावना, सत्संकल्प, पवित्र स्थानपर जाना आपके मन-मन्दिरमें विराजनेवाले परमात्मासे प्रेरित होता है।

जब हम कहते हैं कि अपने भगवान्‌को जाग्रत् करो, तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि अपने उच्चस्वरूप (Higher Nature)-को विकसित करो। जिस चीजको देवत्व कहते हैं, उसको विकसित करो।

जब भगवान्‌को जाग्रत् करनेका विचार आता है, तब अपने मनके असुरत्वको दबानेका, उसको जड-मूलसे नष्ट करनेका प्रयत्न भी स्वाभाविक है। जो व्यक्ति अपने असुरत्वका दमन करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह अपने परमेश्वरको उत्तरोत्तर जाग्रत् करता रहे। परमेश्वरको जाग्रत् करनेसे दुष्ट विचार, कुत्सित भावनाएँ, ईर्ष्या, प्रतिशोध, क्रोध, घृणा, लोभ इत्यादिका अनर्थकारी ताण्डव शान्त हो जाता है। भगवान्‌के सम्मुख असुर कैसे टिक सकते हैं? प्रकाशके सम्मुख अन्धकार कैसे टिक सकता है? सूर्यकी प्रखर रश्मियोंके सम्मुख अन्धकारका अस्तित्व कहाँ?

तुम भगवान्‌के प्रतीक हो। तुम्हारा मन भगवान्‌का मन्दिर है। तुम्हारे शरीरके

प्रत्येक अणुमें परमात्म-तत्त्व व्याप्त हो रहा है। तुम्हें अपने इसी सत्-चित्-आनन्दस्वरूपको विकसित करना चाहिये।

मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूँ

आन्तरिक जगत्में शायद सबसे अधिक उत्पात मचानेवाली ईर्ष्या, शत्रुता एवं प्रतिशोधकी भावनाएँ हैं। जब ईर्ष्या अन्तस्तलमें प्रवेश करती है, तब समग्र अन्तर्जगत् अस्त-व्यस्त हो जाता है, चित्त उद्विग्न हो उठता है, मन अशान्त हो जाता है। गरीब हो, चाहे धनवान् हो; मूर्ख हो, चाहे विद्वान् हो; चक्रवर्ती सम्राट् हो, चाहे रंक हो—सभीको इन शत्रुओंसे मुँहकी खानी पड़ती है। क्या इनसे छुटकारेका कोई उपाय है?

छुटकारेका सर्वोत्तम उपाय है—विश्वक्षमाकी भावनाका साधन। उस व्यक्तिके अन्तस्तलमें अविराम शान्ति विराजती है, जिसने अपने समस्त वैरियों, शत्रुओं, पापियों, दुःखी करनेवालोंको क्षमा कर दिया है। जब आप क्षमाकी भावनामें रमण करते हैं, तब स्वार्थ तथा प्रतिशोधका कल्मष धुल जाता है; उग्रता, क्रोध, प्रतिहिंसाकी धारणा क्रमशः दूर हो जाती है और चित्तमें समस्वरता (Harmony)-का राज्य हो जाता है। ऐसा पुरुष अपना ही नहीं, अनेकोंका लाभ कर सकता है।

प्रातः-सायं जब आप प्रार्थना करते हों, तब धर्मोंकी समभूत इस उक्तिपर भी विचार कीजिये। सोचिये कि आपकी शत्रुता किसीसे नहीं है; मुँहसे कहिये कि आप अपने समस्त शत्रुओंको हृदयसे क्षमा-दान देते हैं। आपने वैरका बदला लेनेकी धारणाको समूल नष्ट कर दिया है। आप अब शत्रुओंको भी मित्ररूपमें देखते हैं। उनसे मित्रवत् व्यवहार करते एवं बोलते हैं। संसारमें सभी आपके मित्र हैं, सुहृद् हैं। सब आपसे प्रेम करते हैं और आप सबको स्नेहसे देखते हैं। सब सुखी हैं और आप भी सुखी हों। इस प्रेम तथा क्षमाभावसे अक्षय शान्तिकी उपलब्धि होती है।

प्रातः अथवा सायं निम्न प्रार्थनासे मुझे अतीव लाभ हुआ है। जिज्ञासुओंके लिये

उसे यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। पाठक इसे क्रियात्मकरूपसे स्वयं करें और जाँचें—

'मैं सब जीवोंको—शत्रुओंको, वैरी तथा निन्दकोंको हृदयसे क्षमा करता हूँ; सब जीव मुझे क्षमा करें। जिन-जिनका जी मैंने दुखाया है, जिन्हें हानि पहुँचायी है, जिनका दिल तोड़ा है, मैं उनसे क्षमा-याचना करता हूँ, सब मुझे क्षमा करें; सबसे मेरी मित्रता हो, किसीसे द्वेष न हो, कलह न हो, विद्रोह न हो। सब सुखी हों, सब आरोग्य हों; विश्वमें सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न हो, सब दुःखोंसे पार हों, सब कल्याणको देखें। सबको सब कुछ प्राप्त हो, सब सभी स्थानोंपर आनन्दसे रहें। दुर्जन सज्जन हो जायँ, सज्जन शान्ति प्राप्त करें, शान्त बन्धनसे मुक्त हों और मुक्त दूसरोंको मुक्त करें।'

इस प्रार्थनाके पश्चात् आप सब ओरसे विचारोंको हटाकर विद्वेषरहित होनेकी भावनापर दस मिनट चित्तको एकाग्र कीजिये। दृढ़तासे निम्न वाक्योंका उच्चारण कीजिये—

'मेरे चित्तका विद्वेष अब बिलकुल निकल गया है। दूसरोंसे प्रतिशोध लेनेकी भावनाको मैंने बिलकुल निकाल दिया है। मैं क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, छिद्रान्वेषणकी अग्नि भरे हुए नहीं रहता। मैं किसीकी बुराइयाँ नहीं करता फिरता; क्योंकि मुझे अनुभव हो गया है कि दूसरोंके दोष तथा अवगुण निकालनेसे उसी प्रकारके विचारोंको अपनी ओर आकर्षित करता हूँ और दोष देखनेकी कुत्सित आदतके बन्धनमें पड़ जाता हूँ। आज मैं इस गंदी आदतसे ऊपर उठ गया हूँ।'

'दूसरे लोग मुझे बुरा-भला कहते हैं तो कहा करें। उनके बुरे विचारोंको मैं अपने अन्तःकरणमें ग्रहण नहीं करता। उनको मैं वापस लौटा देता हूँ। इसी प्रकार मैं अपनी त्रुटियों और दोषोंका भी अधिक चिन्तन और मोह नहीं करता। अधिक चिन्तन करनेसे वे अधिकाधिक परिपुष्ट होते हैं और दोषोंकी वृद्धि करते हैं।'

'मैं जानता हूँ कि अपने दोषोंसे घिरे रहना महापाप है। अपने दोषोंमें संलग्न रहकर दुःखी रहना परमात्माका तिरस्कार करना है, अपना आत्मघात करना है। मैं विद्वेष, प्रतिशोध, ईर्ष्यासे सर्वथा मुक्त हूँ। मैं तो निर्दोष, निर्विकार, चैतन्यघन आत्मा—विशुद्ध आत्मा हूँ। मैं तो केवल उन परमात्माका चिन्तन करनेवाला हूँ, जो सब क्षुद्रताओंके गड्ढेको परिपूर्ण करनेवाले हैं।'

दृढ़तासे उपर्युक्त भावनापर मनको एकाग्र करनेसे आपकी ईर्ष्या दूर हो

जायगी। मनमें विश्वप्रेम, सहानुभूति, दया आदि दैवी विभूतियोंका संचार होगा। मनकी स्थितिके ही अनुसार आपसे दूसरे मनुष्य द्वेष अथवा प्रेम करते हैं तथा जगत्‌की नाना वस्तुएँ दूर अथवा निकट आती हैं। प्रेमकी भावनासे समस्त विश्व आकर्षित होकर आपको अक्षय शान्ति प्रदान कर सकेगा। यदि आपके अन्तर्जगत्‌में इस प्रकारका वातावरण हो तो सम्पर्कमें आनेवाले सभी आपको स्नेहसे देखेंगे।

मोहके बन्धन मत बढ़ाइये

संसारकी नाना वस्तुओंका मोह आत्माको बेड़ियोंमें बाँधता है। छोटी-छोटी वस्तुओंमें मनुष्यकी मनोवृत्ति संलग्न रहती है। जितना अधिक मोह, उतना ही अधिक बन्धन, उतनी ही अधिक मानसिक अशान्ति। संसारकी चमक-दमकमें जितना विलीन होंगे, उतना ही आत्म-तत्त्वको खो देंगे।

एक महर्षिकी कथा कही जाती है। एक महात्मा संसारसे वैरागी बन संसारकी सम्पूर्ण माया-ममताका बन्धन काटकर, संन्यास धारणकर वनमें तपश्चर्याके लिये गये। संसारको भूलकर निरन्तर आत्मामें लीन हो गये। साधना करते-करते कई मास व्यतीत हो गये। मनपर संयम तथा अन्तर्वृत्तियोंपर शासन करने लगे। एक दिन क्या देखते हैं कि उनके आश्रममें दो सौ गज दूरपर बकरियोंका एक झुंड हरी घास चर रहा है। इतनेमें एक सिंहने आक्रमण किया और वह एक बकरीको ले गया। सब बकरियाँ यत्र-तत्र भाग गयीं, केवल मिमियाता हुआ एक बच्चा छूट गया। उसकी माँ सिंहके द्वारा ले जायी जा चुकी थी। महात्माको दया आयी। वे गये और उस छोटे बच्चेको उठा लाये। पालने लगे, उस बच्चेके लिये हरी घास तथा जलका प्रबन्ध करने लगे। मासभरमें बच्चेमें स्वास्थ्य आ गया। ममता-मोह बढ़ा। बच्चेको छाया देनेके लिये महात्माने एक पर्णकुटीकी रचना की, घास-चारेका प्रबन्ध किया। वर्षभरमें बकरी बढ़कर जचने लगी। फिर ऐसा समय आया, जब उसके दो छोटे-छोटे बच्चे उत्पन्न हुए। एकसे तीन हो गये। महात्माकी चिन्ता और बढ़ी। अब उन्हें अधिक चारे तथा स्थानका प्रबन्ध करना पड़ा। होते-होते महात्माके पास बकरियोंका एक पूरा झुंड हो गया। जिस संसारको छोड़कर चले थे, मोहवश होकर फिर उसीमें

वापस आ गये। उनकी आत्मा बकरीके प्रत्येक बच्चेसे बँध गयी।

मनुष्यका मोह घर, जायदाद, बच्चे तथा छोटी-छोटी अनेकों वस्तुओंके प्रति होता है। यही बन्धन है। जब उसकी किसी वस्तुको किसी प्रकारकी हानि पहुँचती है या किसी स्वार्थपर चोट आती है, तब आत्माको कष्ट होता है। मानस-शान्ति भंग हो जाती है। मनुष्य अंदर-ही-अंदर मानसिक पीड़ाका अनुभव करता है।

संतानका मोह मनुष्यकी आत्माका सबसे बड़ा बन्धन है। आपके तीन बच्चे हैं, पत्नी है, इनमेंसे कोई भी बीमार होकर मन:शान्ति भंग कर सकता है। पत्नीको कोई रोग हो जाय तो आपका मन दु:खी रहने लगता है। संतानसे आप कुछ आशा करते हैं; यदि वह पूर्ण नहीं होती तो आप मनकी पीड़ासे विक्षुब्ध हो उठते हैं।

मान लीजिये, आप एक छोटा कुत्ता घरमें पाल लेते हैं। एक प्राणीका घरमें आगमन आत्मापर एक नया बन्धन होगा। उसके भोजन, स्वास्थ्य, निवास, प्रसन्नता इत्यादिकी अनेक चिन्ताएँ आपकी आत्मापर आ जायँगी। घरमें पला हुआ प्रत्येक पक्षी आपकी आत्माको मोटे-मोटे रस्सोंमें बाँधता है। किसी दूसरे व्यक्तिके बाल-बच्चोंको अपने घरमें रख लेना आत्माके बोझको बढ़ाना है।

आपके पास एक घर है, पर आप एक और लेनेकी कामना करते हैं। यह नया बन्धन होगा। आवश्यकतासे अधिक कुछ भी रखना, तरह-तरहके शौक, फैशनपरस्ती, धनकी तृष्णा, भोग-विलासकी अतृप्त कामना आत्माके बन्धन हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें बँधकर मनुष्य तड़फड़ाया करता है। मोहके ये बन्धन मजबूत जंजीरोंसे आपको बाँधे हुए हैं। जब-जब आप मन:शान्तिका लाभ उठाना चाहते हैं, तब-तब इनमेंसे कोई भोग-पदार्थ आपको खींचकर पुन: पहलेवाली स्थितिमें ला पटकता है। मनुष्यकी मुक्ति नहीं, स्वतन्त्रता नहीं।

आपके परिवारका प्रत्येक व्यक्ति आपपर एक प्रकारका बन्धन है, ऋण-बन्धन है। फैशनकी वस्तुएँ, जिनके एक दिन न होनेसे आप दु:खका अनुभव करते हैं, आपका बन्धन है। मादक द्रव्य—शराब, तम्बाकू, चाय, बीड़ी इत्यादि वस्तुएँ, जिनसे आप बँधे हुए हैं, आपको अध्यात्म-पथमें अग्रसर नहीं होने देतीं। आपका प्रत्येक सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक उत्तरदायित्व आपपर बन्धन-स्वरूप होकर आता है। यदि आपको बढ़िया शूट-बूट, कीमती वस्त्र पहननेका

आनन्द एवं उत्साहसे भर दीजिये। बाह्य जगत् आनन्दमय—सुख, उल्लास, प्रेम और सौहार्दसे भरा प्रतीत होने लगेगा। जैसे हम स्वयं हैं, हमारी दुनिया भी वैसी ही कटु या मृदु है। यदि हमें अपने अन्तर तथा बाह्य वातावरणमें शान्ति, स्थापित करनी है, अपने जीवनको संतोष, शान्ति, उल्लास आदि दैवी सम्पदाओंसे भर देना है, तो हमें इन सद्गुणोंके बीज स्वयं अपने अन्तःकरणमें बोने चाहिये। दुःखित विचारधाराका उन्मूलन कर देना चाहिये। दुर्भावनाओंके संकीर्ण दायरेसे निकलकर समानता, एकता और प्रेमके विस्तृत दायरेमें निवास करना चाहिये।

पं० श्रीराम शर्मा आचार्यने सत्य लिखा है—'युद्धोंका मूल कारण दूसरोंके हितोंकी परवाह न कर अपना स्वार्थ साधन करना है। यह नीति जहाँ भी कार्य कर रही है; वहीं कलह उत्पन्न हो रहा है। संकीर्ण दायरेमें सोचनेवाले विचारक अपने देश या जातिके लाभके लिये दूसरे देश या जातिके अधिकारोंकी अवहेलना करने लगते हैं तो उनकी प्रतिक्रिया बड़ी दुःखदायी और अशान्तिकारक होती है। समानता, एकता, प्रेम, सहयोग, उदारता और बन्धु-भावनाके आधारपर सब देशोंके मनुष्य आपसमें मिल-जुलकर रह सकते हैं और दूसरोंका सुख बढ़ानेमें सहायक हो सकते हैं।'

यह नीति हमें व्यक्तिगत जीवनमें बरतनी चाहिये। हम दूसरोंमें समानता, एकता, प्रेम, सहयोग, उदारता, बन्धुत्वके गुणोंकी ही परछाईं देखें और उन्हींको व्यवहारमें लायें।

आदिम प्रवृत्तियोंका परिष्कार

मनुष्य एक उन्नत, अधिक विकसित एवं परिष्कृत प्राणी है। अपने संघर्ष एवं संयमके बलपर वह निरन्तर ऊँचा उठा है और अब भी उठता जा रहा है। इस उन्नतिका मूल कारण निम्न प्रकारकी दुष्प्रवृत्तियोंको दबाकर या तो उन्हें बिलकुल ही विनष्ट कर देना है अथवा उन्हें प्रकट होनेका नवीन उत्पादक मार्ग प्रदान कर देना है।

मनुष्य और पशुमें सामान्यतः चार आदिम प्रवृत्तियाँ बहुत बलवान् हैं।

दूसरोंके साथ सख्तीका व्यवहार यदि आप करते हैं तो स्वयं अपने साथ भी पक्षपात न कीजिये। वैसे ही सख्त रहिये। जब कोई भी पाप, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, निन्दाके विचार अन्तःकरणमें क्रान्ति उत्पन्न करें, तब सावधान हो जाइये कि कहीं उनकी उत्तेजनामें आप दूसरेका कुछ न बिगाड़ बैठें। दोषदर्शी स्वभाव बुरा है। वह एक प्रकारका मानसिक रोग है। इससे मनुष्य क्षुद्रताओंसे भर जाता है।

जो व्यक्ति यह निर्देश किया करते हैं कि 'दुनियामें काम नहीं है, उद्योग-धंधा प्राप्त नहीं हो रहा है, बेकारी है' तो समझ लीजिये कि अयोग्यता उस व्यक्तिपर छायी हुई है।

क्रोधी जहाँ कहीं जायगा, दूसरोंपर अपना क्रोध ही थोपेगा और उसे सभी उद्विग्न प्रतीत होंगे। वह सबसे लड़नेको प्रस्तुत रहेगा, बात-बातपर उत्तेजित हो उठेगा, सबके लिये सरदर्द बन जायगा।

घृणा करनेवाले स्वभावको अच्छी-से-अच्छी वस्तुमें भी घृणाके योग्य कोई पदार्थ प्राप्त हो ही जायगा। वह ऐसी वस्तुओं, मनुष्यों, पशुओंसे भी घृणा करेगा, जिनसे घृणा करनेके लिये कोई भी उचित कारण नहीं है।

अन्यायी, उत्तेजक स्वभाववाले व्यक्तिको सभी बेईमान ही प्रतीत होंगे। वह सबको बेईमान, खुदगर्ज और धोखेबाज ही समझता जायगा। उसकी इच्छाएँ और मानसिक कल्पनाएँ ही मूर्त होकर उसके समीप आयेंगी। वह दूसरोंपर अपनी मनोभावनाओंको थोपता चलेगा।

जिसे दुनिया केवल स्वार्थी, कपटी, गंदी, दुःखमय, कलुषित, असभ्य दिखायी देती है, समझ लीजिये कि ये दुर्गुण उस व्यक्तिके अन्तःकरणमें बुरी तरहसे चिपके हुए हैं, संस्कार बनकर मस्तिष्कके गुप्त रन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो चुके हैं।

अपने दृष्टिकोणमें सुधार करें

सृष्टि त्रिगुणमयी है। इसमेंसे जो व्यक्ति जैसे अच्छे-बुरे तत्त्व खींचना चाहता है; अपने संस्कारों तथा प्रवृत्तियोंके अनुसार खींचता रहता है। इन्हीं कल्पनाओंका एक मायाजाल सदैव उसके चारों ओर छाया रहता है। बाह्य जगत् भीतरी दुनियाका एक चित्रमात्र है। मनुष्यके मनमें जैसी भावनाएँ रहती हैं, बाह्य जगत्की परिस्थितियाँ तदनुकूल निर्मित होती चलती हैं। अन्तरको शुद्ध

व्यसन है, तो इनकी अनुपस्थितिमें आप मनःशान्ति भंग कर लेंगे। यदि किसी दिन साधारण भोजन प्राप्त हुआ और आप नाक-भौं सिकोड़ने लगे, तो यह भी मनकी शान्तिको भंग करनेवाला है। दो-चार दिनके लिये भी आपको साधारण घर, कुटी या धर्मशालामें रहना पड़े, तो आप बिगड़ ही उठते हैं। यह सब इसलिये है कि आपने विविध रूपोंसे अपने-आपको कृत्रिम उत्तरदायित्वोंसे बाँध लिया है। आत्म-तत्त्वको खो दिया है। जरूरतसे अधिक संसारमें लिप्त हो गये हैं। अपनी आत्माके प्रति ईमानदार नहीं रहे हैं।

आपका सम्बन्ध संसारकी इन अस्थिर एवं क्षणिक सुख देनेवाली वस्तुओंसे नहीं हो सकता। आप उत्तम वस्त्रोंमें अपने जीवनके निरपेक्ष सत्यको नहीं भूल सकते। आप स्वच्छन्द, संसारके क्षुद्र बन्धनोंसे उन्मुक्त आत्मा हैं। आप वस्त्र नहीं, आभूषण नहीं, संसारके भोग-विलास नहीं, प्रत्युत सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा हैं। आपका निकट सम्बन्ध आदिस्रोत परमात्मासे है। उसी सत्तामें विलीन होनेसे आत्मसंतोष प्राप्त होता है।

आपके जो सम्बन्ध आपको संसारसे जकड़े हुए हैं, वे दुःखस्वरूप हैं। मृत्युसे जो आपको भय प्रतीत होता है, उसका कारण ये ही सांसारिक मोह हैं। माता-पिता, भाई, पत्नी, पुत्र कोई भी सम्बन्धी आपके साथ सर्वथा नहीं रह सकता। ये बाह्य बन्धन हैं। सबसे उत्तम मार्ग तो यह है कि इनमें रहते हुए भी सदा अपने-आपको पृथक् समझा जाय। जैसे कमल जलमें रहते हुए भी सदा जलसे ऊपर रहता है, उसी प्रकार सांसारिक बन्धनोंमें रहते हुए, गृहस्थके कर्तव्योंका पालन करते हुए भी सदा अपने-आपको संसारसे मुक्त देखिये।

मैं संसारसे सर्वथा मुक्त हूँ। मेरा लगाव इतना ही है, जितना कमलका जलसे होता है। धन, मान, सम्पदा, वासनाके चक्र, बनाव-शृंगार, पद-गौरव, माया-मोह कोई मुझे सदाके लिये नहीं बाँध सकते। मैं संसारके मिथ्यात्व—अस्थिरता और व्यर्थताको समझ गया हूँ। संसारसे मेरा सम्बन्ध अस्थायी है। मैं तो आत्मा हूँ। आत्मतत्त्वोंसे विभूषित हूँ। आनन्द-कन्द परमेश्वर जिसमें समस्त इच्छाओंका निरोध होकर अक्षय सुख, आनन्द, उल्लास प्राप्त होता है, उससे मेरा निकट सम्बन्ध है। मैं आत्माके महान् तत्त्वको अपने जीवनमें स्पष्ट कर रहा हूँ। मेरा अस्तित्व महान् उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हुआ है। मैं संसारकी उलझनोंमें अपने

आत्माको नहीं भूलूँगा। मैं सांसारिक समस्याओंसे, खान-पान, शृंगार, धन एकत्रित करना, दूसरेका माल हड़पना, अनुचित हस्तक्षेप, रिश्वतखोरीसे बहुत ऊँचा हूँ। मैं इन सारी बातोंसे स्वतन्त्र हूँ। मेरे मनकी छिपी हुई अभद्र कल्पनाएँ, पापमय वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। धन-जन, मान, प्रतिष्ठा, जायदादकी आसक्ति तथा ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर मैं परम निर्मल हो गया हूँ। मैं विशुद्ध आत्मा हूँ। मेरी सांसारिक रुकावटें हट गयी हैं। सब पार्थिव बन्धन खुल गये हैं।'

उपर्युक्त भावनामें रमण कीजिये। पुनः-पुनः इसपर विचार करनेसे आत्मचिन्तनकी भावना गुप्त मनमें स्थायी हो जायगी। अज्ञानता, जनमोह दूर हो जायगा, आत्म-भावका उदय होगा। आपकी अशान्ति, छोटे-मोटे झगड़े, व्यर्थकी दुरभिसन्धि, क्षुद्र वस्तुओंके प्रति मोह, शरीर, रुपया, मान, ईर्ष्या, वासना-तृप्ति-सम्बन्धी चिन्ताएँ, समस्त उद्वेग, मानसिक परतन्त्रता दूर हो जायगी। अतः संसारकी चमक-दमकमें आप अपना आत्मतत्त्व न खो दें।

आवश्यकतासे अधिक धन-संग्रह करनेका मोह त्याग दीजिये। आपके लिये एक मकान ही पर्याप्त है। व्यर्थके लेन-देन, सूदपर रुपया देना, खाद्य पदार्थोंका संग्रह करना आदि त्याग दीजिये। परिवारकी वृद्धि न कीजिये। दूसरोंकी जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेना मूर्खता है। अपने ऊपर कम-से-कम बोझ रखिये। मैं आत्मतत्त्व हूँ, सब प्रकारके विकारोंसे मुक्त हूँ—इस भावनाका चिन्तन और व्यवहार करनेसे जगत् आनन्दमय दीखने लगता है। निर्लिप्त अवस्थामें ही मनःशान्ति स्थिर रह सकती है। उठिये, अपनी आत्माके बन्धनोंको काट डालिये।

मानवता ही सर्वोत्तम धर्म है

बात कुछ पुरानी हो चुकी है; किंतु उसमें जो महान् सत्य अन्तर्निहित है, वह आजतक नवीन है। मेरे एक अंग्रेज मित्रने एक अवसरपर कहा था, 'तुम इस रूपमें तो मेरा सम्मान करते हो कि मैं कवि हूँ, लेखक हूँ, पण्डित हूँ; किंतु क्या तुमने कभी यह जाननेकी भी चिन्ता की है कि मैं मनुष्य भी हूँ, अथवा नहीं? क्योंकि यदि मैं मनुष्य हूँ तो सब कुछ हूँ और यदि मनुष्य नहीं हूँ तो मिट्टीका ढेलामात्र हूँ; अन्तर केवल यही है कि मशीनकी भाँति मैं बोलता, चलता तथा

विभिन्न क्रियाएँ करता हूँ और वह जड मिट्टीका ढेला निश्चेष्ट पड़ा रहता है।'

मैं जब कभी अपने चारों ओर दृष्टि-निक्षेप करता हूँ तो उस वृद्ध अंग्रेजकी उक्त पंक्तियाँ अनायास ही याद आ जाती हैं। हमारे धर्मका स्वरूप आज कैसा विकृत है। उसमें संकुचितता है तथा विषम सीमाबन्धनकी दीवारें धर्मकी ज्योतिके विकसित होनेमें बाधा पहुँचा रही हैं। आजके संसारमें दानवताका जो भीषण ताण्डव दृष्टिगोचर हो रहा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यने 'मनुष्यता' को तिलांजलि दे दी है। पाखण्ड, घमंड, अभिमान, तृष्णा, स्वार्थ, वासना—इन सब आसुरी सम्पदाओंका प्रत्यक्ष प्रदर्शन मनुष्यकी क्रूरता, पशुता इत्यादिकी सूचना दे रहा है। आजका 'सभ्य' कहलानेवाला मनुष्य साक्षात् असुर बन गया है। उसकी पशु-प्रकृति, क्रूर स्वभाव बात-बातमें स्पष्ट हो रहे हैं। एक मनुष्य दूसरेको कच्चा चबा डालनेको तैयार है, मानवता रो रही है!

आज अपनेको मनुष्यताकी कसौटीपर कसते हमें भय प्रतीत होता है। अनेक ऐसे सुधारक, कवि, लेखक, नेता आदि हैं, जिन्हें हम आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, परम श्रद्धाका पात्र समझते हैं, नमस्ते-प्रणामका अधिकारी मानकर उनके प्रति श्रद्धासे नतमस्तक हो जाते हैं, उनके भाषण सुनते हैं तथा उनकी रचनाओंका रसास्वादन करते हुए अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। हम उन्हें अपना आदर्श मानकर उनका यथोचित गुणगान भी करते हैं। प्रायः प्रत्येक दृष्टिसे उन्हें 'महानता' का अधिकारी समझते हैं। देवत्व (Hero-worship)-की भावनासे प्रेरित होकर हम उन्हें अत्यन्त उत्कृष्ट भावसे पूजते हैं। कम-से-कम साधारण भावुककी तो यही भावना होती है कि वे सुधारक हैं, नेता हैं, पत्रकार हैं, विद्वान् लेखक हैं; किंतु उनमें कितनी भलमनसाहत है, कितनी ईमानदारी, सत्यता, प्रेम, दया, न्याय, सौजन्य है, उनमें कितना मनुष्यत्व है—इस तत्त्वपर हमारे मानसिक नेत्र कम एकाग्र होते हैं। किसी नेता, गुरु, धर्मप्रचारक, विद्वान् या हमारे श्रद्धाके पात्रमें कितनी 'मनुष्यता' है, इस ओर हमारा ध्यान कम आकर्षित होता है।

यदि हम मनुष्य नहीं हैं तो फिर सुधारक, नेता, राष्ट्रके पथ-प्रदर्शक बननेसे क्या प्रयोजन? यदि हममें मनुष्यताके साधारण उपकरण ही नहीं हैं तो फिर उपदेशक, नेता, कवि, सुधारक बनकर हम राष्ट्रको मनुष्यत्व कहाँसे देंगे?

मनुष्यत्वकी प्राप्ति हमारा चरम लक्ष्य है। यही हमारा धर्म है, सब कुछ है। यही

हमें निम्न प्राणियोंसे ऊँचा बनाता है। सच्चा मानव बननेके लिये हमें दैवी गुणोंको—उन गुणोंको जो हमारे परम पिता परमात्माके हैं, जो हमारी आत्माके आभूषण हैं—धारण करना होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'**दैवी सम्पद् विमोक्षाय**' अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिये दैवी सम्पदाकी अनिवार्य आवश्यकता है। अतएव प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि मनुष्य बननेके लिये दैवी सम्पदाको एकत्र करनेका प्रयत्न करे। बन्धन तथा मोक्ष क्रमशः असुरत्व एवं मनुष्यत्वके ही परिणाम हैं। जो असुर है, वह नित्य बंदी है। वह अपनी यातनाओंका गुलाम है—वह इस संसारमें भी बंदी है, परतन्त्र है तथा गुलाम है, साथ ही दूसरे जन्ममें भी बंदी ही रहेगा। जिसने दैवी सम्पदाओंका संग्रह किया है, वह स्वतन्त्र है, सच्चे मनुष्यत्वका अधिकारी है। ऐसे ही व्यक्तियोंके सत्कर्मोंसे पृथ्वी टिकी हुई है।

दैवी सम्पदाएँ क्या हैं?

संसारमें तीन प्रकारकी भावनाएँ पायी जाती हैं—(१) पशु-भावना, (२) जीव-भावना, (३) आत्म-भावना। दैवी सम्पदाओंकी वृद्धिसे मनुष्य आत्म-भावना प्राप्त करता है। दैवी सम्पदाके विषयमें गीतामें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा-त्याग, सबपर दया, अनासक्ति, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धृति (धीरज), पवित्रता, अद्रोहभाव, निरभिमानता—ये सच्चे मानवके लक्षण हैं। इस प्रकारके जीवनको प्राप्त कर लेना ही सच्ची मानवता है।

परमपिता परमात्मासे हमारी यही प्रार्थना होनी चाहिये कि ''हे भगवन्! नेता, समाजसुधारक, राष्ट्रपति, बड़ा वक्ता बनानेसे पूर्व तू हमें पूरा सच्चा वास्तविक 'मानव' तो बना। तू हमें मनुष्यकी दैवी सम्पदाओंसे विभूषित कर; क्योंकि यदि हम मनुष्य हैं तो सब कुछ हैं, अन्यथा मिट्टीके ढेलेमात्र हैं। सच्ची मनुष्यतामें

मधुरता, सौम्यता, समता, प्रेम, सहानुभूति आदि सब कुछ विद्यमान हैं; किंतु मानवता-विहीन जीवनमें अन्धकारके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हे करुणानिधान! बड़ा बनानेसे पहले तू हमें वास्तविक मानव बना।''

शान्तिकी खोज

केवल खाने-पीने या मैथुन आदि कर्मोंसे ही मानवको यदि शान्ति प्राप्त हो जाती तथा अन्य कुछ न करना पड़ता, आत्मा अपनी आवाज न उठाती और मनुष्यत्व प्राप्त हो जाया करता तो सचमुच मानव-धर्मका अस्तित्व ही न होता—फिर मनुष्य एवं पशुके मध्य कोई सुनिश्चित लकीर (Line of demarcation) भी न होती। कल्याण तथा मोक्षका दिव्य मार्ग दर्शानेवाले जो सुन्दर-सुन्दर ग्रन्थ-रत्न हमारे पास संचित हैं, उनका भी अस्तित्व न होता—खुदगर्जी, खान-पान ही सब कुछ होता। अपने सुखमें ही जन्मकी इतिश्री हो जाती। हम 'अदृश्य' अनन्त शक्तिकी टोहमें न भटकते! किंतु नहीं। इतनेसे ही मनुष्यकी तृप्ति नहीं हुई। वह स्वादिष्ट पक्वान्न खाता है, एक-से-एक सुन्दर वस्त्राभूषणसे अलंकृत होता है, कमनीय भोगोंका भोग करता है; किंतु उफ्! इन सबमें उसे एक भयंकर न्यूनता, एक अशान्ति, एक अतृप्त अभिलाषा प्रतीत होती है। इन सबको पा लेनेपर भी वह अनुभव करता है—एक अपूर्णता, एक पीड़ा, एक हाहाकारी क्रन्दन! इन सबसे ऊबकर वह अनेक पापोंपर अश्रु-विमोचन करता हुआ शान्तिकी खोजमें चल देता है।

यह शान्ति उसे मिलती है अध्यात्म-धर्ममें। उसे मालूम होता है कि मानव-जीवनकी यथार्थता इन शारीरिक अथवा भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें, वासनाओंकी संतुष्टिमें नहीं है, किंतु उस आदर्शकी पूर्तिमें है, जिसे आत्मिक, आध्यात्मिक या धार्मिक—कुछ भी कहा जाय, किंतु जो मानव-हृदयकी पुकार है। इस रहस्यको समझकर भारतके प्राचीन गुरुओंने उच्च मानवीय आदर्शकी पूर्तिके लिये प्रार्थना, दया, विनय, पूजा, भलमनसाहत, जप, तप, योग बनाये थे।

मानवताका सन्देश

मानवताका सन्देश देता हुआ हिंदू-धर्म कहता है कि केवल सत्-तत्त्वकी आराधना करो, भीतर और बाहरसे; अपनेसे तथा परायेसे अहिंसा, क्षमा आदिका

व्यवहार करो। इसी सद्व्यवहारसे, इसी पूजनसे मनुष्य 'मनुष्यत्व' से भी ऊपर उठकर 'देवत्व' की श्रेणीमें पहुँच जाता है। धर्मके अनुसार मनुष्योंकी रचना चार तत्त्वोंपर हुई है—(१) इन्द्रियाँ और जड-तत्त्व, (२) बुद्धि, (३) मन, (४) आत्मा। इन चार तत्त्वोंकी दृष्टिसे विचार करनेवाले लोग 'मेरा वैयक्तिक और साम्प्रदायिक ध्येय क्या है?' इस प्रश्नके चार भिन्न-भिन्न उत्तर देंगे। जडवादी लोगोंका ध्येय है इन्द्रियोंकी शान्ति तथा इन्द्रियोंका आनन्द। मनुष्यको खाने-पीनेको पेटभर मिले; उसके और उसके समाजके पेटका सवाल आसानीसे हल हो जाय; खेती और व्यापारकी उन्नति हो।

बुद्धिवादी कहते हैं कि मनुष्यका ध्येय अन्न और धन हो ही नहीं सकता। यह ठीक है कि मनुष्यको दोनोंकी अनिवार्य आवश्यकता है; परंतु मनुष्यकी सच्ची उन्नति उसकी बौद्धिक उन्नति है।

मानस वृत्तिको ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाले कहते हैं कि यद्यपि बुद्धि बड़ी है, तथापि उदात्त अन्तःकरणकी सहायताके बिना, केवल बुद्धिसे कोई लाभ नहीं। शील-चरित्रसम्पन्नता ही अन्तिम प्राप्त करनेयोग्य है। सदाचार ही सर्वश्रेष्ठ ध्येय है।

चौथे वर्गके लोगोंका कथन है कि सत्य और सदाचार—ये दोनों ध्येय बड़े जरूर हैं, परंतु सर्वश्रेष्ठ कदापि नहीं। उनकी अपेक्षा आत्मानुभव श्रेष्ठतर ध्येय है। सारांश यह कि मनुष्यके सम्मुख—सम्पत्ति, सत्य, सदाचार और आत्मानुभव—ये चार भिन्न-भिन्न ध्येय चिरकालसे प्रस्तुत रहे हैं। दुनियाके लोग इन्हीं चार ध्येयोंमेंसे किसी एकपर डटे रहे हैं। जिसकी जैसी रुचि रही, जिसने जितनी शिक्षा पायी, जिसने जिस ध्येयको पसंद किया, वह समय-समयपर उसीपर डटा रहा है।

तीन मार्ग

भारतके प्राचीन ऋषियोंने इन सभी ध्येयोंको देखा, इनपर चिन्तन, मनन किया। अन्तमें उन्होंने जीवनके उस परमपदतक पहुँचनेके तीन रास्ते दिखलाये—ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग। सम्पूर्ण भारतीय साहित्यका रहस्य इन तीनों मार्गोंके तत्त्वको समझनेमें है। इन तीनों मार्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर मनुष्य अध्यात्म-तत्त्वका साक्षात्कार करना चाहता है; किंतु इसका यह

अर्थ नहीं कि ये तीनों मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। साधक एक मार्गका आश्रय लेता है तो उसके जीवनमें दूसरे मार्गोंकी भी छाया पड़ती है।

तर्कशिरोमणि प्रो० धर्मेन्द्रनाथजी लिखते हैं, 'जो ज्ञानमार्गपर चलनेवाला तत्त्वज्ञानी है, उसके अंदर प्रभुप्रेम स्वभावत: होगा और उसके कर्म भी निष्काम होंगे। इसी प्रकार दूसरे मार्गोंपर चलनेवालोंके विषयमें भी है। एक मार्गपर चलनेका यह अर्थ है कि वह मार्ग उस व्यक्तिके लिये विशेष उपयुक्त है।'

जिसकी जैसी प्रवृत्ति है, वह उसके अनुसार ऊपरके तीनों मार्गोंमेंसे एक चुन ले। जो चिन्तन तथा विचारमें निमग्न रहनेवाले दार्शनिक हैं, गूढ़ आध्यात्मिक गुत्थियोंको बुद्धिसे सुलझा सकते हैं, वे ज्ञानमार्ग चुनें। उसकी जटिल समस्याओंको समझें। जो भावुक या भावनाप्रधान हैं, जिनमें भावोद्रेक होता है, वे भक्तिमार्गको चुनें—मनोभावोंको परमेश्वरके चरणोंमें लगावें। जो निष्काम कर्मका आदर्श लेते हैं, वे कर्तव्य-कर्म करें, समाजके नियमोंको लक्ष्यमें रखकर पुरुषार्थ करें और जीवनको सफल बनायें।

एक ही सत्यके रूप

हम पहले भी कह आये हैं कि ज्ञान, भक्ति और कर्ममें गहरा सामंजस्य है। ये एक ही सत्य (Truth)-के अनेक रूप हैं। या यों कहिये कि अनेक रूपोंमें बँटे हुए एक ही वस्तुके विविध अंश हैं। आध्यात्मिक जीवनकी अनगिनत सड़कें हैं, जो एक ही स्थानपर आकर मिल जाती हैं। वह स्थान है—भगवान्‌के चरण। सभी घूम-फिरकर करुणावरुणालयके पादपद्मोंमें मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही स्पष्ट किया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् जो मुझे जिस मार्गसे आकर मिलते हैं, मैं उन्हें उसी मार्गसे मिल जाता हूँ।

हिंदू-धर्म ही मानव-धर्म है

अहा! कैसा दिव्य संदेश है—'जो मुझे जिस मार्गसे आकर मिलते हैं, मैं उन्हें उसी मार्गसे आकर मिल जाता हूँ।' इस एक वचनको हिंदू-धर्म या मानवताका प्राण मानना चाहिये। यदि हम इस सिद्धान्तकी व्यापकता समझें तो संसारके सब झगड़े-टंटे अनायास ही मिट सकते हैं। विश्वयुद्धको रोकनेकी

इसमें अतुल सामर्थ्य है। साम्प्रदायिक कलह—हिंदू-मुसलिम झगड़ोंको निपटानेवाला यही एक तत्त्व है। यह सहिष्णुताका मूल-मन्त्र हिंदू-धर्मका एक उच्च आदर्श हमारे सम्मुख पेश करता है। दुनियाके सभी धर्म, सभी आदमी, सभी सम्प्रदाय, मत-मतान्तर इस भित्तिपर एक हो जाते हैं। प्रत्येक धर्मका आध्यात्मिक स्वरूप इसीमें निहित है और इसीलिये संसारमें यदि कोई व्यापक धर्म हो सकता है, तो वह मानव-धर्म है, जिसे हम हिंदू-धर्म भी कहते हैं।

हम मानते हैं कि हिंदूसमाजमें कई एक कुरीतियाँ पैठ गयी हैं। स्वार्थ, लालच, संकीर्णता, कट्टरता, रूढ़िवादिता घुस आयी हैं; किंतु सच्चे हिंदू-धर्मका इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं। सच्चा हिंदू-धर्म कहता है कि 'हे विभिन्न प्रकारसे इबादत करनेवालो! तुम्हारा केन्द्र एक है, मूल स्थान एक है, मंजिले मकसूद एक है; फिर क्यों व्यर्थके झगड़े-टंटोंमें फँसते हो। व्यर्थके ऊँच-नीच भावोंको छोड़ो और सबको गले लगाओ; क्योंकि तुम एक परमेश्वरके ही तो राजकुमार हो। एक ही पिताके बड़े-छोटे पुत्र हो। परमपिता तुम्हें एक ही स्नेहकी दृष्टिसे देखते हैं, समानरूपसे प्यार करते हैं।'

ऐसे विशाल दृष्टिकोणको रखनेवाला, संकीर्णतासे दूर रहनेवाला धर्म मानव-धर्म है। इसीको धारण करनेवाला मनुष्य मनुष्य है। हिंदू-धर्म अपने इसी सिद्धान्तके कारण मानव-धर्म है और महान् है।

गायत्री एक जीवन-विद्या है

जो व्यक्ति जिस वस्तुसे लाभ उठाना चाहता है, उसे उसके सम्बन्धमें आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। कोई व्यक्ति बेशकीमती तलवारका स्वामी हो परंतु उसे पकड़ना, चलाना न जानता हो तो वह उस तलवारसे मिलनेवाले लाभका उपयोग नहीं कर सकता। भारतीय तत्त्वज्ञानसे लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये भी यह आवश्यक है कि वे उस विद्याके कारण, विज्ञान, रहस्य, विधान और प्रयोगको समझें। बिना आवश्यक जानकारी प्राप्त किये हमारा बहुमूल्य विज्ञान हमारे लिये आज निरर्थक ही नहीं, अनुपयोगी एवं भाररूप भी सिद्ध हो रहा है।

जीवकी स्वाभाविक इच्छा सुख प्राप्त करनेकी है और वह इसी प्रयोजनके लिये नाना प्रकारके विचार और कार्य किया करता है, परन्तु देखा जाता है कि उसका प्रयत्न बहुधा निष्फल चला जाता है। सुख-प्राप्तिके लिये जो कुछ सोचा गया था और जो कुछ किया गया था, वह अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करनेकी जगह उलटा दुःखदायक बन जाता है। हम देखते हैं कि आज अधिकांश मनुष्य दुःखी हैं। उन्हें अपनी वर्तमान दशासे घोर असंतोष है और अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करनेके लिये सदैव छटपटाते रहते हैं। यह अवस्था अल्पबुद्धि, अल्प-विकसित निम्नवर्गके लोगोंकी हो सो बात नहीं है—अपनेको बुद्धिमान्, विद्वान्, साधन-सम्पन्न और उच्च वर्गके समझनेवाले लोगोंकी भी यही दशा है। सभी लोग सुखकी आकांक्षा रखते हैं, पर सभी लोग उससे दिन-दिन दूर पड़ते जा रहे हैं। उनका मन और शरीर जो कुछ भी करता है, वह अभीष्ट उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक नहीं, बाधक होता प्रतीत होता है।

मानव-प्राणीकी इस कठिनाईको हमारे पूजनीय ऋषि बहुत पहलेसे जानते थे, इसलिये उन्होंने आनन्दके अक्षय भंडारके वास्तविक स्थानको युग-युगान्तरकी खोजके पश्चात् ढूँढ़ निकाला और उसे सर्वसाधारणके सम्मुख उपस्थित कर दिया। इस खोजका नाम है—'ब्रह्म-विद्या'। इसीका दूसरा नाम है 'भारतीय संस्कृति या भारतीय तत्त्वज्ञान'।

भारतीय संस्कृति एक विशुद्ध विज्ञान है, जिसका उद्देश्य मनुष्य-जीवनके बाहरी और भीतरी आनन्दका परिपूर्ण विकास करना है। इस विज्ञानको जब हम जानते थे, तब यह भारतभूमि 'स्वर्गादपि गरीयसी' थी; तब हम चक्रवर्ती, शान्तिरक्षक और संसारकी अतृप्त आत्माओंको अमृत पिलानेवाले जगद्गुरु थे। आज उसकी उपेक्षा करके हम दीन-हीन हो गये हैं। अपनी दीनताको मिटानेके लिये इधर-उधर ओस चाटते-फिरते हैं, पर अपने ही आँगनमें बने हुए सुधा-सरोवरकी ओर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि जिसे भी देखिये वह अशान्त, असंतुष्ट, अभावग्रस्त दिखायी पड़ता है। किसीको चैन नहीं, किसीको शान्ति नहीं, किसीको प्रसन्नता नहीं, किसीको उल्लास नहीं। धनीसे लेकर गरीबतक और विद्वान्से लेकर मूर्खतक सभी एक-सी बेचैनीसे पीड़ित दिखायी पड़ते हैं।

भारतीय-संस्कृतिमें वह सब कुछ मौजूद है, जिससे मनुष्य सच्चे अर्थोंमें

सुखी बन सकता है। कुछ समय पहलेतक यह विश्वास किया जाता था कि भौतिक विज्ञानकी उन्नतिसे मनुष्य-जातिके सुखोंमें वृद्धि होगी। रेल, तार, जहाज, बिजली आदि नाना प्रकारके आविष्कार करनेवालोंका यही अनुमान था; पर परिणाम विपरीत निकला। सुविधाएँ तो जरूर बढ़ीं, पर उन सुविधाओंसे बचे हुए समयका सदुपयोग करनेवाले ज्ञानके अभावमें ये सब अभिशाप साबित हुए। धनी अधिक धनी बन गये, गरीब अधिक गरीब हो गये। श्रमकी उपेक्षा होने लगी और ऐश-आरामकी प्रवृत्तिने चरित्र और स्वास्थ्यका सत्यानाश कर डाला तथा अस्पतालों, औषधालयों, जेलखानों, न्यायालयोंके द्वारोंपर भीड़ खड़ी कर दी। यह भौतिक विज्ञान आज तो भस्मासुरकी तरह प्रलय-ताण्डव करनेको तैयार खड़ा है। परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, मृत्यु-किरण, पॉइजन गैस और कीटाणु बमकी आड़में खड़ा हुआ हिरण्याक्ष दैत्य आज फिर अट्टहास कर रहा है। लोग उस पौराणिक कथापर विश्वास नहीं करते, जिसमें कहा गया है कि हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वीको चुरा ले गया था। परमाणु बमों और हाइड्रोजन बमोंसे सजा हुआ हिरण्याक्ष आज पृथ्वीको निगल जानेके लिये, चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये कैसा विकराल रूप बनाये खड़ा है—इसे हम आज आँखोंसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उस पौराणिक कथाकी पुनरावृत्ति होनेमें बहुत देर दिखायी नहीं पड़ती। यह असम्भव नहीं कि उन्नतिकी चरम सीमापर पहुँचा हुआ विज्ञान समस्त मानव-जातिको ही नहीं, पृथ्वी-ग्रहको ही भस्म कर दे।

यह नयी बात नहीं है। भूतकालमें भौतिक विज्ञानके अत्यधिक विकासके परिणामोंका परीक्षण हो चुका है। उनसे चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली सुविधाएँ मिलती हैं; पर वे सुविधाएँ अन्ततः घातक परिणाम ही उपस्थित करती हैं। रावण आदि वैज्ञानिकोंने भौतिक आधारपर चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त की थीं, और कितने ही तपस्वियोंने योग और तन्त्रके आधारपर चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियोंका रास्ता निकाला था; पर दोनों ही अन्ततः अनुपयोगी ठहराये गये और उनका सार्वजनिक उपयोग बंद करनेके लिये कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये। लंकाका सारा विज्ञान-प्रदेश हनुमान्‌के द्वारा जलवा दिया गया, ताकि वे प्रयोगशालाएँ वहीं नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार तन्त्रका वाम-मार्ग अनैतिक ठहराकर उसकी साधनाओंका बहिष्कार किया गया। कापालिक, अघोरी, वैतालिक आदिको

समाजसे बहिष्कृत करके अछूत घोषित किया गया। ऋद्धि-सिद्धियोंके चमत्कार न दिखानेकी प्रतिज्ञा और शपथ लेनेपर ही कोई गुरु अपने शिष्यको योग-विद्या सिखाये—ये नियम बनाये गये। कहनेका तात्पर्य यह है कि हर प्रकारसे भौतिक विज्ञानकी अनावश्यक उन्नतिको रोका गया। ऋषि जानते थे कि मनुष्य-जातिकी सामूहिक मनोदशा बालकोंकी-सी है; ये बच्चे बारूदसे खेलेंगे तो जल-मरनेके अतिरिक्त और किसी परिणामपर न पहुँचेंगे।

मनुष्यके सुखकी अभिलाषा अकेले विज्ञानसे, अकेले धनसे, अकेले बुद्धि-चातुर्यसे कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। यह सब भी जरूरी है; पर इसकी जरूरत एक सीमित मात्रामें ही है। सुखोंकी वास्तविक सम्भावना किस मार्गमें है इस सम्बन्धमें भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने दीर्घकालीन अन्वेषण किये हैं और उन्होंने वह मार्ग ढूँढ़ निकाला है, जिसपर चलकर कोई भी मनुष्य निश्चितरूपसे सुख-शान्ति, आशा-उन्नति और आनन्द-उल्लासका अवश्यमेव आस्वादन कर सकता है। इस सुख-शान्तिकी वैज्ञानिक पद्धतिका नाम है—भारतीय संस्कृति। दुर्भाग्यसे आज इसे भी मजहबोंकी पंक्तिमें पटक दिया गया, पर जब वास्तविकताको पहचाना जायगा, तब सोने और पीतलको आसानीसे अलग किया जा सकेगा।

भारतीयता वस्तुतः मानवताकी प्रतीक है। इसलिये भारतीय संस्कृतिका वास्तविक अभिप्राय मानव-संस्कृतिसे है। यह संस्कृति एक विशुद्ध विज्ञान है, जिसका आधार प्रकृतिके जड परमाणु नहीं—वरं प्राणीके गहन अन्तरालमें रहनेवाली वह चेतना है, जो यदि स्वस्थ दिशामें विकसित हो जाय तो आनन्दके फव्वारेकी तरह फूट पड़ती है और चारों ओर पवित्रता, शान्ति, स्नेह, सौन्दर्य और सुख-ही-सुख फैला देती है। यह संस्कृति एक व्यवस्थित जीवन-पद्धति है, एक विशुद्ध शास्त्र है। ब्रह्म-बोध, तत्त्व-ज्ञान, शुद्ध दृष्टि, जीवन-शास्त्र एवं धर्म-धारणा भी इसीको कहते हैं। इसके अंग-प्रत्यंगोंका विवेचन करनेके लिये अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं। वेद-शास्त्र, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, स्मृति आदिमें भारतीय संस्कृतिकी एक-एक बातकी पूरे विस्तारके साथ विवेचना की गयी है। परंतु जिनको इतना अवकाश नहीं है कि उन सब बातोंको जानें या पढ़ें, उनके लिये एक बहुत ही छोटा २४ अक्षरोंका मन्त्र भी मौजूद है—जिसमें उस महान् अध्यात्मविज्ञानकी सभी बातें बीजरूपसे मौजूद हैं। इसीलिये उसे भारतीय संस्कृतिका बीजमन्त्र भी कहते हैं। इस मन्त्रका नाम है—'गायत्री।'

गायत्रीको अनजान लोग एक ऐसा मन्त्रमात्र समझते हैं, जो झाड़-फूँकके काम आता है या जिससे धन, संतान, स्त्री, लाभ, विजय आदिकी प्राप्ति होती है। यह जानकारी बहुत ही अधूरी और एकांगी है। इस प्रकारकी विशेष शक्तियाँ और सुविधाएँ गायत्री साधकको प्राप्त नहीं होतीं, यह कहनेका हमारा अभिप्राय नहीं है। पर यह समझ लेना चाहिये कि इस प्रकारके विशेष लाभ तो विशेष व्यक्तियोंको विशेष तपस्यासे, विशेष परिस्थितियोंमें ही प्राप्त हो सकते हैं। गायत्रीका सर्वोपरि महत्त्व तो यह है कि उसका एक-एक अक्षर उन शिक्षाओं, आदर्शों और सिद्धान्तोंका प्रकाश करता है, जिनके द्वारा मनुष्य-जातिकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय समस्याओंका सुलझाव हो सकता है। गायत्री विश्व-धर्म है। गायत्रीको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और संसारके समस्त ग्रन्थोंको दूसरे पलड़ेमें रखा जाय तो गायत्री ही भारी ठहरेगी। मनुष्य अन्य शिक्षाओंकी दृष्टिसे भले ही अशिक्षित हो; पर यदि उसे गायत्रीके गर्भमें छिपी हुई शिक्षा प्राप्त है तो उसे पूर्ण विद्वान् कहा जा सकता है। क्योंकि अन्य शिक्षाएँ तो साधन और सुविधाएँ ही बढ़ा सकती हैं, पर गायत्री तो जीवनको जीनेकी ही कला सिखाती है।

यदि हम अपने मनुष्य-जन्मका सच्चा लाभ उठाना चाहते हैं तो जीवनको जीनेकी विद्या भी सीखनी चाहिये। यदि हम सुखी बनना चाहते हैं तो सुख-साधनोंका प्रयोग करनेकी विद्या भी जाननी चाहिये। तलवार रखनेका लाभ उसे ही मिलेगा, जो तलवार चलाना जानता है। जीवन उसीका सफल होगा, जो जीवनके जीनेकी विद्यासे परिचित है। इस महाविद्याको 'गायत्री' कहते हैं। गायत्री-गीता और गायत्री-स्मृतिके आधारपर यदि इन चौबीस अक्षरोंमें संनिहित सिद्धान्तोंपर मनुष्य ध्यान दे, उन्हें हृदयंगम करे तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति सामान्य परिस्थितियोंमें रहते हुए भी स्वर्गीय सुख-शान्तिका अनुभव करता हुआ अपने मानव-जन्मको धन्य बना सकता है।

मैं गायत्रीको भारतीय संस्कृतिका प्रतीक मानता हूँ और इसीलिये उसके सम्बन्धमें मुझे विशेष रुचि एवं उत्साह है। मनुष्य-जातिका सच्चा हित इसी विज्ञानके आधारपर सम्भव दिखायी पड़ता है।

ईश्वरको अपने भीतरसे चमकने दीजिये

अनेक युग बीत गये, सृष्टिके आदिकालमें जब मानवको सर्वप्रथम पृथ्वीतलपर अधिष्ठित होना था, तब सृष्टिकर्ताके समक्ष यह समस्या उपस्थित हुई कि मानवकी रूप-रेखा, आकृति, शरीर इत्यादि कैसा हो। असंख्य प्राणियोंकी आकृति, प्रकृति, रूप, शरीर इत्यादि निश्चित हो चुके थे। केवल प्राणिमात्रके सम्राट्—मनुष्यकी रूप-रेखाका प्रश्न था। ईश्वर मनुष्यको अनन्त सामर्थ्यशाली, शक्तिमान्, पुरुषार्थी पुतला बनाना चाहता था। तुच्छ जीवोंकी अपेक्षा सम्राट्को श्रेष्ठतम शक्तियों, तत्त्वों, स्वभाव, गुणोंसे परिवेष्टित होना ही चाहिये। असीम कृपा तथा प्रेमके वश होकर परम पिताने मनुष्यको अपनी ही आकृति प्रदान कर दी। वस्तुत: मनुष्य उसी अखिलेश्वरकी प्रखर छवि-राशिका एक ज्योति:पिण्ड है। बाह्य एवं आन्तर—दोनों ही ओरसे मनुष्य अपने परम पिताके सद्‌गुणोंसे विभूषित है।

अविनाशी आत्मा! अपने वास्तविक स्वरूपको पहचानो। अपने जन्मके उत्तम वर्ण, उत्कृष्ट तत्त्वों, अद्वितीय शक्तियोंके भंडारको खोलो! तुम क्षणमात्रमें बुलबुलेकी तरह विनष्ट होनेवाले अकिंचन जीव नहीं हो। कीट-पतंगोंकी तरह तुम्हें कोई पद-दलित नहीं कर सकता। तुम्हारी ज्योति अखण्ड है। वह यों ही साधारण घात-प्रतिघातसे कदापि निष्प्रभ नहीं हो सकती। तुम क्षणभंगुर पदार्थोंके पीछे भटकनेवाले या विषय-वासनाको प्रदीप्त कर उसे तृप्त करनेके लिये तुच्छ इच्छाओंके गुलाम नहीं हो। आदतें तुम्हें मजबूर नहीं कर सकतीं। पाप एवं अज्ञानमें इतनी शक्ति नहीं कि तुम्हारे ऊपर शासन कर सकें। संसारकी कुटिल मोहक वस्तुएँ तुम्हें पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकतीं। प्रबल-से-प्रबल दुष्ट आसुरी भाव तुमपर आक्रमण करके तुम्हें दबा नहीं सकता। तुम्हारा तो ईश्वरसे अखण्ड और अटूट सम्बन्ध है।

जिन साधनोंको लेकर तुम पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए हो, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं। उनकी शक्ति अनेक इन्द्रवज्रोंसे अधिक है। अन्य कोई जीव तुम्हारा मुकाबला नहीं कर सकता। सफलता, विजय, उत्तमता और अखण्ड आनन्द तुम्हारा जन्मजात अधिकार है। तुम्हारे अन्तर्जगत्‌में ऐसी अद्‌भुत शक्तियाँ हैं,

जिन्हें प्रकटकर तुम अज्ञानान्धकारको दूर कर सकते हो। तुम्हें कोई अकारण ही भयभीत नहीं कर सकता; शंका, संदेह, चिन्ता तुम्हारे निकट नहीं आ सकतीं।

अपने चारों ओर दृष्टिनिक्षेप करो। जिसकी आज्ञासे प्राण जीवित रहते हैं, जिसकी अलौकिक जीवन-संचारिणी प्रेरणासे बुद्धि अपना कार्य सम्पन्न करती है, जो समस्त प्राणोंका प्राण—अधिष्ठाता है, वाणियोंकी वाणी है, उस परम पिताकी रचना ही रचना है। पुनः-पुनः सोचो, जब हमारा ईश्वर सर्वांग-सम्पूर्ण है तो यह क्योंकर सम्भव है कि हम अपूर्ण रहेंगे। ईश्वरने ऐसी किसी वस्तुका सृजन नहीं किया जो आत्मापर आधिपत्य स्थापित कर सके। न स्तुति न निन्दा; न राग न द्वेष; न देह न गेह; जन्म या मृत्यु, लाभ या हानि—कोई भी इस परम-तत्त्वको निष्प्रयोजन दबावसे क्षय नहीं कर सकता। जीवनके प्रधान तत्त्वोंमेंसे यह एक महान् नियम है।

ईश्वरको तुम अपने भीतरसे कार्य करने दो। ईश्वर सत् है, तुममें भी वह सत्की ही प्रतिक्रिया और उसीका दिव्य प्रकाश करना चाहता है। तुममें वह स्थायित्व प्रस्तुत है, जो सतत-सर्वकालीन है, प्रत्येक वस्तुमें निहित है, प्रत्येक स्थानमें व्यापक है। तुम वह आत्मा हो, जो **'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'** (गीता २। २०)—अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। जिसमें किंचित्-मात्र भी विकारका अंश प्रस्तुत नहीं; जो भेद-भावसे पूर्ण मुक्त है और जिसका कभी क्षय नहीं होता। जिसमें अभाव नहीं, परिवर्तन नहीं; जो सदा-सर्वदा-सर्वत्र एकरस, एकरूप और सम्पूर्ण है और जिसमें कभी भी विकारकी सम्भावना नहीं। तुम्हारे जीवनका उद्देश्य महान् है। तुम्हारे शरीरके प्रत्येक अंगका उद्देश्य अतिशय श्रेष्ठ है। प्रत्येकके पृष्ठ-भागमें ईश्वरने कुछ दिव्य रहस्य छिपाया है। तुम उसी रहस्यको प्रकट करनेकी चेष्टा करो। अपने अंग-प्रत्यंगोंसे ईश्वरकी दिव्यता प्रत्यक्ष करो। तुम्हारे पाँव पवित्र कार्यमें योग दें, तुम्हारे हाथ उत्तम वस्तुओंको ही ग्रहण करें, तुम्हारा मुख श्रेष्ठ वाणीका ही उच्चारण करे, तुम पवित्र वस्तुओंका ही रसास्वादन करो, तुम्हारा प्रत्येक कार्य परोक्ष-शक्तिद्वारा प्रेरित हो और प्रत्यक्षरूपसे ईश्वरत्वको प्रकट करे। यदि संसारमें कुछ भी कार्य-सम्पादन करो तो वह अपने 'गुपाल' के ही निमित्त करो—

भजौं तो गुपालै ही कों, सेवौं तो गुपालै एक,
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नंदलाल सों॥
मेरे देव देवी गुरू माता पिता बन्धु इष्ट,
मित्र सखा हरी नातो एक गोप-बाल सों॥
'हरीचंद' और सों न मेरो संबन्ध कछु,
आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों॥
माँगौं तो गुपाल सों, न माँगौं तो गुपाल ही सों,
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों॥

तुम ईश्वरके मार्ग-प्रदर्शनमें अवरोध न करो। वह स्वयं तुम्हारा मार्ग निष्कण्टक कर देगा। तुम्हें किसी प्रकारका शक या संदेह न होने देगा। तुममें 'चित्' तत्त्वका बाहुल्य है, जडताकी किंचित्-मात्र भी सम्भावना नहीं। तुम शुद्ध सात्त्विक बुद्धि, सत्-ज्ञानके चेतन-पुंज हो, ज्योतिर्मय पिण्ड हो; फिर अज्ञान-अंधकार तुम्हारे पास किस प्रकार टिक सकता है? तुम वह चेतन हो, जिसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य एवं प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि भाव स्वाभाविक ही प्रकाशित होते हैं। परमात्माके अंश होनेके कारण स्वाभाविक रूपमें तुममें मोह, अज्ञान, स्वार्थ आदि कुछ भी नहीं, केवल चेतनमात्र है।

परमात्माका आनन्दस्वरूप तत्त्व तुममें प्रस्फुटित हो रहा है। तुम्हारा जीवन आनन्दका अथाह स्रोत है। परमात्मा स्वतः सुखरूप है, अक्षुण्ण आनन्द ही है। उसमें अभद्र, अनिष्ट भावनाओंकी तनिक भी सम्भावना नहीं। अशान्ति, विक्षेप, द्वन्द्व इत्यादि अनिष्ट प्रपंचोंकी तनिक भी गुंजाइश नहीं। वहाँ तो विलक्षण आनन्द, असीम अनन्त एकरस परिपूर्ण निर्विकार आनन्द ही है। इसी परम तत्त्व आनन्दपुंजसे तुम्हारा निकट सम्बन्ध है। यही ज्ञानस्वरूप आनन्द तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है।

सत्-चित्-आनन्दरूप होकर अपने हथियारोंको भलीभाँति सँभालना है और फिर बुद्धिपूर्वक कर्तव्य-मार्गमें जुट जाना है। तुम साक्षात् कल्पवृक्ष हो, पारस हो, अमृत हो और सफलताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति हो।

जब मनुष्य अपनी वास्तविकतासे परिचित हो जाता है, तब उसकी आत्मामें जागरण (Awakening) होता है, संकीर्णताके स्थानपर उदारता

(Liberalism) आती है। निषेधके स्थानपर अपरिमित प्रगतिशीलता संनिविष्ट होती है। तुम्हारी चेतनाका स्पर्श, उसका जागरण उत्तरोत्तर अपरिमेय तत्त्वोंके अवगाहनकी ओर अग्रसर होता है।

तुम्हारी आत्माके जागरणके दो चिह्न हैं—

१-मृत्युके प्रति निर्भयता।

२-जीवनके प्रति मुक्ति।

जीवनकी सर्वतोमुखी पुकारों (Duties and responsibilities)-के प्रति हम खुले रहें, पूर्ण करते रहें और मृत्युकी ओरसे सदैव निश्चिन्त बने रहें। जो व्यक्ति निज जीवनको निरर्थक, अनुचित और अनुपयोगी कार्योंमें व्यय कर रहे हैं, वे मृत्युसे भयभीत होंगे ही। उनकी अन्तश्चेतना ऐसा अनुभव करती है कि जीवनका जो मैंने दुरुपयोग किया है, उसके फलस्वरूप मृत्युके पश्चात् मुझे दुर्गतिमें जाना पड़ेगा। यदि तुम मृत्युके भयसे मुक्त होना चाहते हो तो अपने जीवनका सदुपयोग करना, निज कार्य-क्रमको धर्ममय बनाना प्रारम्भ कर दो, ऐसा करनेसे तुम्हारी अन्तश्चेतनाको यह विश्वास होने लगेगा कि भविष्य अन्धकारमय नहीं, प्रत्युत सर्वथा प्रकाशपूर्ण है। जिस क्षण यह विश्वास दृढ़ हो जाता है, उसी क्षण मृत्युका भय विनष्ट हो जाता है।

अपनी वास्तविकतामें जाग्रत् व्यक्ति भविष्यकी प्रतीक्षा ही नहीं करता, वरं उसका निर्माण भी करता है। वह स्रष्टा भी है, निःशंक और निःसंशय भी। अतः वह क्रमशः अपना स्वामी स्वयं बननेकी चेष्टा करता है और कालान्तरमें मृत्युंजय बन जाता है।

यह दिव्य प्रगति अन्तरात्मासे आविर्भूत होती है एवं जीवनकी बाढ़को अबाध कर देती है। आत्मा और वासनाका द्वन्द्व (Conflict) शान्त हो जाता है। हृत्-तन्त्रीके उच्छृंखल तार मिथ्या-ज्ञानसे मुक्त हो प्रसन्न निखिल विश्व-प्रेमका अनुसरण करते हैं। वह सत्य, जो अज्ञान और पाखण्डसे आवृत था, स्वच्छ होकर जीवनकी विषम पहेलियोंपर विद्युत् प्रकाश डालता है।

कभी-कभी तुम्हारे मन-मन्दिरमें आसीन ईश्वर मुखरित हो उठता है और तुम आत्म-ध्वनि सुनते हो। अन्तरिक्षसे एक मूक आवाज आती है—जो निर्देश करती है, 'ऐसा करो, ऐसा नहीं।' यह अन्तर्ध्वनि उसी दिव्य जागरणकी प्रतीक

(Symbol) है, जो क्रमशः तुम्हारा उद्धार करनेके हेतु अखिलेश्वर प्रवाहित कर दिया करते हैं। किंतु शोक! महाशोक!! तुम उस उच्चादेशको समझते नहीं, उसपर विचार नहीं करते, अपने जीवनस्रोतको उस ओर नहीं मोड़ते—दैवी तत्त्वसे तादात्म्य स्थापित नहीं करते। आनन्द—अलौकिक सतत आनन्द, स्वर्गीय आनन्दके दिव्य प्रवाहसे आत्माको परिपूरित नहीं करते।

निज आत्माके अक्षय अमिट सत्यको पहचानो। वह सत्य तुम्हें संसारकी संकीर्णतासे मुक्त कर देगा। न जरा, न मृत्यु-भय, न संसार-चक्र—कोई भी तुम्हारे ईश्वरीय स्वरूपपर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकते। तुम ईश्वरके हो और ईश्वर तुम्हारा है।

जब मानवजातिको यह ज्ञान, विश्वास और निश्चय हो जायगा कि सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार परब्रह्म परमात्माकी अक्षय सत्तासे उसका एकताका सम्बन्ध है, तब तमोगुणसे उत्पन्न उसके समस्त भय-शंकाएँ विनष्ट हो जायँगी। ज्यों ही मनको दैवी तत्त्वकी क्षणिक आभा दृष्टिगोचर हुई, ज्यों ही उसे यह ज्ञान हुआ कि वह परमेश्वरका सनातन अंश है, ईश्वरका अटूट भण्डार उसके पास है, त्यों ही वह अपने मनमें एक अलौकिक शक्तिका अनुभव करने लगेगा। अनन्त शक्तिशाली परमात्मासे तुम जितना सम्बन्ध स्थिर करोगे, तुम्हें उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी।

अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करो और हृदयस्थ सर्वव्यापक परमात्माके प्रति मोड़ो। इस आन्तरिक दिव्य प्रदेशमें प्रवेश करो। ज्यों-ज्यों तुम हृदयमें गहरे उतरोगे, तुम्हारे मनको एक अद्‌भुत चमत्कारिक अखण्ड ज्योतिका अनुभव होगा। यही तेजस्वी प्रकाश तुम्हारी सम्पूर्ण मनोव्यथाओंको विनष्ट करनेवाला है। गीतामें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

अर्थात् जो कुछ जगत्‌में भव्य, ऐश्वर्यवान् तथा तेजस्वी प्रतीत होता है, वह ईश्वरके तेजका अंश है। इसी अंशका अनुभव जागृति (Awakening)—सच्ची जागृति है। इसका साक्षात्कार क्लेशोंसे मुक्तिका सर्वोत्तम मार्ग है।

ईश्वरको तुम अपने भीतरसे काम करने दो। तुम उसके मार्गमें अवरोध न करो। उसके निर्देशकी ओरसे कान न बंद कर लो, उधरसे बहरे न बन जाओ। प्रत्युत ईश्वरीय अंशको स्वच्छन्दतापूर्वक स्वयं प्रकाशित होने दो, ईश्वर स्वयं तुम्हें उत्कृष्ट मार्गपर अग्रसर कर देगा। तुम अपने शरीर, मन, वाणीसे प्रत्येक क्षण जो क्रिया करते हो, ईश्वरके दूत बनकर करो। तत्पश्चात् इससे अधिक कर्तव्य तुम्हारे निमित्त शेष न रहेगा। तुम ईश्वर होकर जीवित रहो, ईश्वर होकर खाओ-पियो और ईश्वर ही होकर साँस लो। इस प्रेरणासे तुम्हारी मुखाकृति भव्य हो उठेगी और तुम सनातन सत्य (Universal truth)-का अनुभव कर सकोगे।

जब ईश्वरसे मन ऊबता है

संसारके समस्त कार्य एक विशिष्ट नियमानुसार सम्पन्न हो रहे हैं। उनमें एक क्रम है, व्यवस्था है तथा है अन्योन्याश्रित सम्बन्ध। विश्वनियन्ता संसारके प्रत्येक कार्यका सम्यक् निरीक्षण करके उपयुक्त क्रम निश्चित करते हैं। प्रत्येक प्राणीके अन्तरिक्ष प्रदेशमें दैवी भूमिकाका अस्तित्व है। इसी गुप्त प्रदेशमें ईश्वरीय तत्त्वका निवासस्थल है। अनन्त सुख एवं आनन्दके हेतु मनुष्य परमात्माकी इसी दैवी भूमिकामें प्रवेश करता है। इस विश्रामस्थलमें निरन्तर अखण्ड ज्योति प्रज्वलित रहती है। उसीके दिव्य प्रकाशसे समस्त आधि-व्याधि, अज्ञानान्धकार विनष्ट हो आत्म-तत्त्व-बोध और शान्ति प्राप्त होती है। इस दैवी भूमिकामें मन केन्द्रित करनेसे प्रत्येक प्रतिकूल प्रसंग, प्रत्येक विषम स्थिति, प्रत्येक संशय दूर हो जाता है। यही आत्मसाक्षात्कारकी परिपुष्ट आध्यात्मिक स्थिति है। इसी गुह्य स्थानमें अनन्तशक्तिमान् परमात्मामें तल्लीन रहनेसे अन्तर्भानकी अनुभूति होती है। दुःखका तिरोभाव होकर परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

दैवी भूमिकामें प्रवेश करना, दैवी तत्त्वपर मन केन्द्रित करना परम कल्याणका मार्ग है। जब ईश्वरसे मन ऊबता है, तब वह चोर-चाण्डालों-जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने बैठ जाता है। बात-बातमें कुतर्क करता है; हृदयको अत्यन्त संदेह-शील बना देता है; दम्भ, कपट, पाखण्ड, व्यर्थकी

हैं, वह सरलतासे प्राप्त हो सकता है। जब ईश्वरीय बोध हो जाता है, तब धन एवं भोग-विलासकी सामग्रियोंमें आसक्ति नहीं रहती। जीव क्षणिक मोहके चक्रमें मारा-मारा नहीं फिरता।

अनेक व्यक्ति संसारके अधिकार और पदार्थ प्राप्त होनेपर भी महादु:खी रहते हैं और इसके विपरीत जिनके पास पाई-पाईकी भी कठिनाई है, वे भी दैवी भूमिकामें प्रवेश करनेके कारण प्रसन्नचित्त रहते हैं। अनित्य वस्तुओंसे सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

तुम विचारकर देखो कि क्या तुम्हारा मन ईश्वरोन्मुख है? कहीं वह अन्य स्थानोंपर तो भ्रमण नहीं करता? क्या तुम्हारी धारणा ईश्वरके प्रतिकूल है? क्या तुम्हारी आत्मा उस शुभ्र प्रकाशसे परिपूर्ण है? तुम कहीं ईश्वर-विहीन निकृष्ट मनकी स्थितिमें तो निवास नहीं करते? जब तुम एकान्तमें होते हो, कुछ काम नहीं करते, तब तुम किस प्रकारके विचारोंके सम्पर्कमें रहते हो? क्या-क्या विचारते हो? इनमें दैवीतत्त्व कितना होता है? सांसारिक माया-मोहका घनत्व कितना होता है। मन दूसरोंके दोष-दर्शनकी ओर कितना प्रवृत्त होता है? शुभ भावनाएँ उमड़ती हैं या नहीं? दूसरोंके मुखसे अपनी बुराई सुनकर तुम्हारी आनन्द-धारामें कितना व्याघात पहुँचता है?

यदि इस आत्म-परीक्षाके पश्चात् तुम निज अन्त:करणमें कुछ त्रुटियाँ पाते हो तो उसका अभिप्राय स्पष्ट ही है—तुम अपने व्यक्तिगत क्षेत्रमें संकुचित उपकरण धारण किये हुए हो। तुम अपने कार्यक्षेत्रके बाहर भी इन्हीं क्षुद्र विचारोंका सामंजस्य ढूँढ़ते हो। तुम्हारा अन्त:करण उस विश्वात्मासे खण्डित होकर अस्त-व्यस्त हो उठा है। जिस प्रकार जहाजका पक्षी जहाजसे उड़नेके पश्चात् उन्मुक्त सागरमें इस ओरसे उस ओरतक मारा-मारा फिरता है, कहीं विश्रामस्थल नहीं पाता और अन्तमें घूम-फिरकर पुन: उसी जहाजपर आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार विश्वात्मासे विचलित आत्मा नाना प्रकारके निरर्थक प्रलोभनों, क्रियाकलापों, क्षुद्र प्रसंगोंमें सुखाभास देखकर कुछ कालके लिये उसमें रमता, भूलता, अल्पसुखमें पूर्ण सुख मानता हुआ अन्तमें समष्टि-स्थित विश्वात्मामें ही पूर्ण शान्ति पाता है। जबतक वह ईश्वर-तत्त्वसे विपरीत रहता है, तबतक पाप, अन्याय, अत्याचारके विविध आवरणोंसे आच्छादित रहता है।

सौभाग्यवश जब उसकी प्रवृत्ति पुनः अपने आदिस्रोतकी ओर हो जाती है, तब विक्षिप्त बुद्धिजनित अन्धकारका नाश होता है।

जीव स्वभावतः परमात्म-तत्त्वमें निज सामंजस्य ढूँढ़ता है, क्योंकि पूर्ण सुखकी इच्छा सभीको है। वह दुःख-मिश्रित अल्प सुखमें पूर्ण संतुष्ट नहीं हो सकता। उसे तृप्ति चाहिये और परमात्मा उसका सागर है। इन जीव-नदियोंमें जो प्रवाह है, वह इसी चरम लक्ष्यकी ओर है। ईश्वरसे नियुक्त होनेका अभिप्राय है—उस कूड़े-करकटको हटाना, जो इन नदियोंमें जमा हो गया है और जिससे गतिमें बाधा आती है। यह अवस्था विस्मृति, तमोगुणके अंधकार, विक्षिप्त बुद्धिकी है। ऐसा भूला हुआ व्यक्ति दयाका पात्र है। वह अपनी महत्ता—वास्तविक स्वरूपको भूल बैठा है। ऐसा भूला हुआ आदमी अपनेको विश्वविधानका एक क्षुद्र अंश ही समझता रहता है। उसे यह बोध ही नहीं होता कि उसका सम्बन्ध कितनी उत्कृष्ट चेतनासे है।

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है, तो उसका कारण यही है कि वहाँसे परमात्म-तत्त्व विलीन है। जितना जिसे ईश्वरपर सत्य विश्वास होता है, उसे उतने ही सांसारिक सुख-दुःख न्यून होते हैं। इस पूर्ण सत्यको, इस गहन विश्वासको हृदयमें उतार लो। इसे मनकी पूर्ण स्थिति बना लो। 'मैं आत्मा हूँ, नित्य-पूर्ण आत्मा हूँ, निर्भय आत्मा हूँ।' इस तत्त्वपर आत्म-संकल्प दृढ़ करो। इसपर गम्भीरतासे विचार करो। मनोनेत्र स्थिर करो। विश्वान्तरात्मामें व्याप्त हो जाओ। जितने ही तुम इस उच्च भूमिकामें प्रविष्ट होगे, तुम्हें अपनी दुर्बलतापर विजय प्राप्त होती चलेगी। इस सम्बन्धके स्थिर करनेसे तुम अपनी अति क्षुद्र अनुचित कामनाओंसे, अनुचित विकारोंसे, अभद्र इच्छाओंसे उन्नत हो सकोगे।

जिस अमृत-तत्त्वसे प्राण जीवित रहते हैं, जिसकी शुभ प्रेरणासे बुद्धि निज कार्यमें प्रवृत्त होती है, जिसकी प्रतिभा तुम्हारे अन्तरिक्षमें मंजुल प्रकाश करती है, जिसकी अन्तर्दृष्टिसे दिव्य शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जो अक्षय, नित्य आत्मा है, वह चेतन-पुंज तुम्हारे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित है। इस स्थानपर चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करनेसे आत्मसाक्षात्कार होता है।

निर्भय-स्वरूप आत्माका बोध

आत्माको डर किसका?

भय तुम्हारे मनकी एक क्षुद्र आदत मात्र है; यह चित्तकी एक विशेष वृत्ति है, जो क्रमशः अन्तर्जगत्के अन्धकारके कारण उत्पन्न होती है। यह हमारी दिव्य आत्माका गुण नहीं है। हमारी आत्मासे डरका कोई सरोकार नहीं। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमानन्दस्वरूप है। गीतामें निर्देश किया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह आत्मा अजन्मा, अविनाशी, सनातन, अजर-अमर, एकरस, नित्य है। यह नाशरहित है। नाश होता है तो केवल उसके बाह्य आवरणका अर्थात् केवल इस शरीर-मात्रका; फिर हम इस भुलावेमें क्यों पड़ रहे हैं कि आत्मा और शरीर एक है? इस आत्माका शरीरसे वही नाता है, जो मनुष्यका वस्त्रके साथ।

हम आत्मा हैं—अजर-अमर आत्मा हैं। हमें कौन डरा सकता है? आत्माको भय किसका? शोक, कष्ट, दुःख, व्यथा, ईर्ष्या हमारी आत्मापर क्योंकर अपना दूषित प्रभाव डाल सकते हैं? हममें आत्मबल पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। अतः कोई भी कलुषित विचार कैसे ठहर सकता है? कोई भी विरोधी-भाव क्योंकर हमारे हृदयको अशान्त कर सकता है? भय तो वहाँ हो सकता है, जहाँ त्रुटि है, न्यूनता है, अन्धकार है। हमारे अन्तरमें तो आत्मप्रकाश जगमगा रहा है। अतः बाह्य जगत्के परिवर्तनके साथ वह किस प्रकार भटक सकता है? जो सदा एकरस—न कभी न्यून, न अधिक रहनेवाला हो, उसे किसका भय? वह तो स्वयं अपने-आपमें ही पूर्ण है।

निर्भय-स्वरूप आत्माका बोध

आत्मशक्तिके प्रतापसे साधारण व्यक्ति भी अनेक चमत्कार कर दिखाता है। वह एक ऐसी दिव्य तथा अमोघ शक्ति है, जो सामर्थ्य, शक्ति तथा विजय प्राप्त कराती है। तुम बीमार होते हो, किंतु वह शक्ति सक्रिय रहती है; वह शक्ति ईश्वरका अंश है, वह परमात्मा है। तुम्हारी अन्तरात्मा ही परमात्मा है। अतः

परम निश्चिन्त होकर अखिल विश्वके सामर्थ्यके साथ ऐक्य स्थापित करो।

आत्माका निर्भय स्वरूप जाग्रत् करनेके लिये रात्रिमें सोनेसे पूर्व कष्ट एवं दुविधाके समस्त विचारोंको हटाकर पवित्र एवं बलवान् विचारोंके यथार्थ स्वरूपकी रचना मनमें करो। कहो कि 'मेरा मन सदा शुभ संकल्प करनेवाला है; अशुभ या कलुषित विचारोंसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं। माता-पिता अथवा मेरे आहार, आचरण, संगति, वातावरण इत्यादि किसीमें भयके संस्कार नहीं हैं। कोई मेरे प्रतिकूल नहीं है। मैं संशय, चिन्ता, उद्वेगके अशुभ विचारोंद्वारा नहीं सताया जाता! मैं परमात्माका निर्भय पुत्र हूँ। मेरे कलुषित मनका कल्मष, मलिनता और भ्रान्ति इत्यादि दूर हो गयी हैं। मेरे मनका कोई अधिपति नहीं हो सकता! अब मेरी आत्मा जाग उठी है। मैंने अपने हृदयस्थ परम निर्भय आत्माका दर्शन कर लिया है जो कि बलका महासागर है। इस विशुद्ध ज्योतिके पवित्र प्रकाशको भय-भ्रान्ति-मोह-संदेह स्पर्शतक नहीं कर सकते।'

इन संकेतोंमें बड़ी प्रबल शक्ति है। तुम संकेतोंसे अपना कायाकल्प कर सकते हो। नये संस्कार उत्पन्न कर सकते हो। अन्तर्मनसे संदिग्ध मानसिक दशाओंको हटाकर सर्वोत्तम विचारको स्थापित कर सकते हो। अनिष्ट संस्कारोंका प्रतीकार शुभ, सात्त्विक तथा पवित्र संस्कारों (Impressions)-से ही हो सकता है। उत्कृष्ट संस्कारोंको अन्तःकरणमें नये पौधोंकी तरह लगाना ही भयके विनाशकारी विचारोंसे मुक्ति पानेका उपाय है। जब तुम नये संस्कारोंको दुहराते हो, तब उससे तुम्हारे वातावरणके ईथरमें कम्पन उत्पन्न होता है और उसका यथावत् प्रादुर्भाव भौतिक संसारमें दृष्टिगोचर होता है। यदि तुम अपने-आपको निर्भयता, सुख, शान्तिके निर्देश दोगे तो अपने-आपको वैसी ही स्थिति तथा दशामें परिणत होते हुए पाओगे। तुम्हारी पूर्व तथा वर्तमान स्थितिमें घोर परिवर्तन ज्ञात होगा।

अशुभ संस्कारोंपर विजय-प्राप्तिका एक और साधन

एकान्त स्थानपर बैठकर सर्वप्रथम पाँचसे दसतक प्राणायाम तथा दीर्घ श्वास-प्रश्वास क्रियाएँ करो, फिर 'ॐ' का दीर्घ जप प्रारम्भ कर दो। तुम्हारी जपमें अपूर्व श्रद्धा हो, प्रचण्ड उत्साह हो तथा अखण्ड निष्ठा हो। 'ॐ' नामसे भयके, शंकाके, संशयके विचार स्वयं अदृष्ट हो जाते हैं। 'ॐ' के पास अशुभ

तथा अभद्र कल्पनाएँ कदापि नहीं आ सकतीं। 'ॐ' नाम परम पवित्र, परम बलशाली तथा पूर्ण मंगलकारी है।

जब तुम्हारे ऊपर असद्विचारोंका आक्रमण हो तो कुछ कालके लिये निश्चेष्ट होकर घण्टानादसे इस परम पवित्र शब्दका उच्चारण प्रारम्भ कर दो। कुछ कालके अभ्यासके पश्चात् तुम्हारा अपनी इच्छापर काबू होने लगेगा और इच्छाके विरुद्ध कोई अनिष्टकारी विचार अन्तःकरणमें प्रवेश न कर सकेगा। परमात्माके इस शुभ नामके सम्मुख अनिष्ट संस्कार कदापि नहीं टिक सकता। अन्तःकरणमें 'ॐ' नामका प्रकाश हो जानेसे मनकी अपवित्र कल्पनाओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है। यह सब मन्त्रोंमें मन्त्रराज है।

निष्कण्टक जीवनके लिये

यदि तुम पूर्ण निष्कण्टक होना चाहते हो तो स्मरण रखो कि तुमको प्रार्थनाके साथ-साथ मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाना होगा। अपनी कमजोरियों तथा दुर्बलताओंसे युद्ध करना होगा, ढूँढ़-ढूँढ़कर अपनी कमियोंको निकालना होगा। इस कार्यमें दूसरा कोई भी तुम्हारी सहायता करनेवाला नहीं है। विजय अपने बलसे प्राप्त होती है।

जीवनमें प्रवेश करनेसे पूर्व तुम यह दृढ़ धारणा बना लो कि विजयके लिये आपत्ति, दुःख, कठिनाइयाँ आवश्यक हैं। यदि जीवनमें झंझटें, आपत्तियाँ या कठिनाइयाँ न आयें, तो मानव-जीवनमें कुछ रह ही न जाय।

मैत्री-भावना भीरुताकी विनाशक है

आत्महीनताकी ग्रन्थिसे क्लान्त व्यक्ति मानसिक भीरुताको आध्यात्मिक बलद्वारा दूर कर सकता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्राप्त हो जानेपर मनुष्य अपने-आपको परिस्थितियोंसे ऊँचा एवं बलशाली अनुभव करता है और इसीलिये वह परिस्थितियोंको अपने पक्षमें परिवर्तन करनेका सतत उद्योग किया करता है। आध्यात्मिक भावनाको जाग्रत् करना ही आत्म-विश्वासकी अभिवृद्धि करना है, आत्म-संकल्पकी अद्भुत शक्ति ही हमको दुर्बलता एवं दीनताकी भावनासे ऊपर उठाती है।

योगदर्शनमें आत्महीनतासे मुक्तिका एक और उपाय बताया गया है। मनुष्य-

जीवनमें चार प्रकारकी भावनाएँ ही समाधि-अवस्थाके हेतु कल्याणकारी हैं। इन्हींकी साधनासे मनमें प्रचण्ड शक्ति एवं सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है; बुद्धि सद्ज्ञान प्राप्त करती है तथा चित्तमें प्रेरणा होती है। ये चार भावनाएँ निम्नरूपमें व्यक्त की जा सकती हैं—

१-मैत्री-भावना अर्थात् प्राणिमात्रके निमित्त सत्, पवित्र एवं कल्याणकारी भाव रखना।

२-करुणा-भावना अर्थात् संसारके पीड़ित जनसमुदायके प्रति हार्दिक सहानुभूति रखना।

३-मुदिता-भावना अर्थात् सुखी वर्गके सुखमें अपने सुखको लय कर देना।

४-उपेक्षा-भावना अर्थात् प्रतिकूल सम्मतिवालोंके झंझटों या भ्रान्तिमें न फँसना।

उक्त चारों प्रकारकी भावनाएँ अन्तरात्माको पर्याप्त आत्मिक बल प्रदान करती हैं। जो व्यक्ति जीवनकी चट्टानोंसे टकराकर हताश हो गये हैं, उन्हें इन भावनाओंके अभ्यासद्वारा आत्म-सत्ताकी प्रतीति होगी, उनके काल्पनिक भय आत्मश्रद्धामें परिणत हो जायँगे तथा निर्भयताकी प्राप्ति होगी। महर्षि पतंजलिने उक्त भावनाओंकी उपयोगिता यों व्यक्त की है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥

(योगदर्शन १। ३३)

अर्थात् यदि किसी पुरुषको सुखी देखे तो उसके प्रति मित्रताका भाव करे। यदि किसीको दुःखसे पीड़ित पाये तो उसे अपनी सहानुभृति (करुणा) प्रदान करे। यदि पुण्यवान्‌को देखे तो प्रसन्न हो और यदि पापीको देखे तो उसके प्रति उपेक्षा करे अर्थात् पूरा तटस्थ रहे। ऐसा अभ्यास करनेसे चित्तका उद्वेग नष्ट होता है। यदि आप सुखी व्यक्तिके प्रति मैत्री-भावना रखेंगे तो चित्तमें ईर्ष्याकी अग्नि प्रज्वलित न होगी। दुःखसे पीड़ित व्यक्तिके प्रति सहानुभृति-प्रदर्शनसे क्रूरता एवं स्वार्थपरताकी बुरी आदत दूर होती है। पुण्यवान्‌को देखकर असूया—गुणोंमें दोष ढूँढ़नेकी वृत्ति नष्ट होती है। जब हम पापी, क्रूर तथा प्रतिकूल विचारवाले व्यक्तिसे तटस्थ रहते हैं तो क्रोध, घृणा एवं हिंसारूप दोषोंका क्षय होता है। इस प्रकार ये चारों भावनाएँ ही परम कल्याणकारिणी हैं।

उक्त चारों भावनाओंमें 'मैत्री' भावनाका विशिष्ट स्थान है। 'मैत्री' भावनाके निरन्तर अभ्यासद्वारा मनकी सब कायरता, भय, कल्पित उद्वेग सदाके लिये दूर हो जाते हैं। सबसे मैत्री-भावना रखनेवाला संयमी सदा दूसरोंका प्रिय होता है। वह मीठी नींद सोता है। उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। वह परम निर्भय जीवन व्यतीत करता है।

मैत्री-भावनाका स्वरूप एवं अभ्यास

जबतक हमारे अंदर अहं-बुद्धि रहती है, तबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्वार्थ, ईर्ष्या, अभिमान, राग, द्वेष, छल-प्रपंच मनको विचलित करते रहते हैं। 'मैत्री' भावना मनुष्यको सबके प्रति—चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, पापी हो या पुण्यात्मा—मित्रताका भाव रखना सिखाती है। पापी व्यक्ति दुष्कर्म करता है, फिर उन्हीं दुष्कर्मोंको छिपानेके कारण नरककी यातना भोगता है। 'मैत्री' भावना हमें इन सबके प्रति सद्भाव धारण करना सिखाती है। जब हम समस्त विश्वमें अपने मित्र-ही-मित्र देखनेका अभ्यास कर लेंगे, न किसीका बुरा चाहेंगे न सोचेंगे ही, सब जीवोंके प्रति कल्याण-भावना ही रखेंगे, उसीको अन्तःकरणकी स्थायी वृत्ति बना लेंगे तो फिर कौन हमारा शत्रु रह सकता है। मैत्री-भावनासे जब मनुष्यका हृदय भरा-पूरा होता है, तब या तो कोई कठिनाई उस व्यक्तिके सम्मुख प्रकट ही नहीं होती और यदि होती भी है तो उसकी सद्भावनाओंकी शक्तिसे पराजित हो जाती है। जब हम दूसरोंका बुरा चाहते हैं तो अप्रकटरूपसे हम उन्हें अपने शत्रुओंके रूपमें देखने लगते हैं। कालान्तरमें अंदर-ही-अंदर उनसे भयभीत होने लगते हैं। मैत्री-भावना इस दुविधा वृत्तिको दूरकर हृदयमें समध्वनि या समस्वरता (Harmony) प्रकट करती है। मैत्री-भावनासे प्रेरित व्यक्तिकी देवतातक रक्षा करते हैं। उसकी सद्भावनाएँ फलित हुए बिना नहीं रह सकतीं। 'मैत्री' भावनाके अभ्याससे स्वार्थ, ईर्ष्या एवं अभद्र संस्कारोंका नाश होता है तथा आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है।

निर्बल शरीरसे काम न चलेगा

प्रायः देखनेमें आता है कि मजबूत, हृष्ट-पुष्ट व्यक्तिको काल्पनिक डर विचलित नहीं करते। वह सिंहके समान अतुल शक्तिसे भयके भूतको मार भगाता है। उसका आत्मविश्वास सदैव उसकी सहायता करता है।

अपने निर्बल शरीरको देखो। अपने पतले-दुबले हाथ, पाँव, पिचके हुए निस्तेज मुखके पीले वर्णको देखो। क्या तुम दुनियाकी कठिनाइयाँ इस निर्बल शरीरसे सहन कर सकते हो? क्या इस टूटी-फूटी कृशकाय नावसे जीवनका महासागर पार कर सकते हो? अपने निर्बल शरीरके लिये तुम स्वयं जिम्मेदार हो। यदि तुम चाहो तो अपरिमित शारीरिक शक्ति प्राप्त कर सकते हो।

तुम्हें यह भ्रम त्याग देना चाहिये कि स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करनेमें धनके बिना कार्य न चलेगा। तुम्हें इस बातपर विश्वास कर लेना चाहिये कि स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करना केवल अपने ऊपर ही निर्भर है। बहुमूल्य ओषधियोंद्वारा रोगोंके प्रतीकारकी व्यवस्था हो सकती है, किंतु उससे स्वास्थ्य नहीं बढ़ाया जा सकता। उत्तम स्वास्थ्य बाजारमें मोल नहीं मिलता। ओषधियोंके प्रयोगसे न स्वास्थ्य बढ़ता है और न शक्ति ही प्राप्त होती है। ऐसे व्यक्तियोंको अन्तमें हताश होना पड़ता है। जो स्वास्थ्य चाहते हैं, उन्हें आहारसंयम, व्यायाम, प्राणायाम तथा आसन इत्यादिके पथका विधिपूर्वक अवलम्बन करना चाहिये।

शरीरको नीरोग रखनेके लिये ताजी हवा, ताजा दूध और ताजी तरकारियों, फलों इत्यादिके समान दूसरी दवा नहीं है। सदाचार स्वास्थ्यके लिये अमोघ ओषधि है।

'समय' आ रहा है, जब निर्बल शरीरसे काम न चलेगा।

आत्मोन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन आत्मभावका विस्तार

अध्यात्म-शास्त्रकी सम्पूर्ण रचना केवल एक व्यावहारिक सिद्धान्तके ऊपर आधारित है। यह सिद्धान्त प्रत्येकके जीवनमें प्रयोगकी वस्तु है। यह आधारभूत सिद्धान्त है—'आत्मभावका विस्तार।'

जब कोई व्यक्ति अपने धनकी अभिवृद्धि करता है, तब कहते हैं कि 'उसने आर्थिक उन्नति की है।' कोई अपने ज्ञानको बढ़ा लेता है तो कहते हैं, 'उसने बौद्धिक और मानसिक उन्नति की है।' इसी प्रकार आत्मोन्नतिका तात्पर्य

पश्चात्ताप ही आत्मशुद्धि है

संसारमें सबसे ठोस ज्ञान टक्करोंके स्कूल (School of hard knocks)-में होता है। टक्करोंके स्कूलका अभिप्राय यह है कि मनुष्य गलती करता है, उसे इस गलतीकी सजा मिलती है। सजा मिलनेसे उसे यह अनुभव होता है कि यदि मैं अमुक कार्य करूँगा तो उसका अमुक दुष्परिणाम होगा। प्रत्येक गलतीपर सजाका जो प्राकृतिक नियम है, वह मनुष्यकी ज्ञान-वृद्धिका सबसे अधिक स्वाभाविक एवं प्राकृतिक मार्ग है। पशु-जगत्को देखिये, किस प्रकार अपनी गलतीपर कुटते-पिटते वे निरन्तर टक्करोंके स्कूलमें शिक्षा प्राप्त करते चलते हैं। अजायबघरमें शेर और हाथी-जैसे भयंकर हिंसक जीव भी टक्करें खाकर करतब करना सीख जाते हैं।

मानव-जगत्में यह नियम कुछ अधिक परिष्कृत दशामें उपलब्ध है। मनुष्यको परमेश्वरने वह ज्ञान दिया है, जिसके द्वारा वह नीर-क्षीर-विवेक कर सकता है। उसके मानस-जगत्में एक दिव्य शक्तिका अस्तित्व है, वह है—अन्तरात्मा। अन्तरात्मा मनुष्यकी वह दैवी शक्ति है, जिसके द्वारा मानवको सत्-असत्, उत्तम-अधम, सन्मार्ग-कुमार्ग और अच्छे-बुरेका ज्ञान होता है। मनुष्यकी अन्तरात्मा अच्छे कार्यसे संतुष्ट रहती है; किंतु जहाँ मनुष्य कोई अनीतिपूर्ण गन्दा कार्य कर बैठता है, अन्तरात्मा मनुष्यको बुरी तरह धिक्कारती है। अंदर-ही-अंदर मनुष्य अपने दुष्कृत्यपर पश्चात्ताप करता है। 'यह मैंने क्या किया? अमुक व्यक्तिकी चुगली या निन्दा करनेसे मुझे आखिरकार क्या मिल गया? अमुकको सौदा कम देकर मुझे क्या लाभ हुआ? झूठ, फरेब, मिथ्याचार, चोरीसे मुझे कौन-सा स्थायी लाभ हुआ है? कुछ भी नहीं, धिक्कार है मुझे। मैं बड़ा पापी हूँ? मैं अच्छे-बुरेकी पहचान नहीं कर सकता।' इत्यादि विचार मनुष्यके अन्तस्तलमें निरन्तर एक चुभन उत्पन्न करते रहते हैं।

पश्चात्ताप करना कुछ बुरी बात नहीं है। निन्द्य तो यह है कि मनुष्य पुनः-पुनः एक ही गलतीकी पुनरावृत्ति करता रहे। यदि मनुष्यको सच्चा पश्चात्ताप होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उसकी आत्मा जाग्रत् है। उसमें सत्यके

प्रति निष्ठा और विश्वास है। ऐसे व्यक्तिमें ऊँचा उठने और आध्यात्मिकता जाग्रत् करनेके लिये प्रचुर सद्‌गुण विद्यमान हैं। केवल माया-मोह, अशिक्षा, स्वार्थ इत्यादिका अन्धकारमात्र छाया हुआ है। खराबी बाहर है, अन्तरमें वास्तविक सात्त्विकता—आत्मतत्त्वकी शक्ति अब भी मौजूद है। गलतीपर पश्चात्ताप करनेका अर्थ आगे उसे न दोहरानेकी निशानी समझनी चाहिये। हार्दिक पश्चात्ताप करनेवाला व्यक्ति आत्मप्रकाशसे देदीप्यमान है; क्योंकि उसमें भविष्यको सुधारनेकी सदिच्छा वर्तमान है।

पश्चात्ताप एक ऐसी अग्नि है, जो मनुष्यको असत्, गंदगी, अशुचितासे बचाती है, गलत मार्गपर जानेसे रोकती है। यह केवल निषेधात्मक (Negative) तत्त्व ही नहीं, प्रत्युत पापके प्रतीकारस्वरूप कुछ करनेकी प्रेरणा देनेवाला तत्त्व भी है।

पश्चात्ताप करके ही न रुक जाइये, प्रत्युत अपनी पवित्र शक्तियोंको अपने अंदरसे पूरी शक्तिसे कार्य करने दीजिये। पापका प्रतीकार तब होगा, जब आप पुण्यका आश्रय ग्रहण करेंगे।

पश्चात्तापसे मनुष्यकी आत्मशुद्धि होती है। सांसारिक कल्मष छूटकर आत्मभाव प्रकट होता है। सत्पथकी ओर मानसिक शक्तियाँ केन्द्रित होती हैं। सच्चा पश्चात्ताप करनेवाला पुरुष महाज्ञानी और महाविद्वान् हो जाता है। पश्चात्ताप एक शुभ स्थिति है।

कार्य करें। हममें सद्ज्ञानके प्रसारकी दुर्दमनीय प्रेरणा हो। ईश्वरके करोड़ों पुत्रोंको सुखी करनेकी लगन हो।

आध्यात्मिकताका तकाजा है—दूसरोंके जीवनसे प्रेम करना। आध्यात्मिकतामें साम्प्रदायिक धर्म तथा रूढ़ियोंको कोई स्थान नहीं दिया जाता। वह जीवन तो परमात्मशक्तिमें निहित आन्तरिक चेतनाद्वारा संचालित होता है। गरीबी, धन-सम्पदा आदिका उस जीवनमें कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

सच्चा आध्यात्मिक पुरुष अन्तर्मुख होकर आत्मसुखको प्राप्त करता है; मिथ्या प्रदर्शन, बाहरी पूजा, दिखावा इत्यादिका त्याग करता है; किसी निम्न वासनामें उसकी रुचि नहीं होती; वह अपनी इन्द्रियोंका स्वामी होता है। आत्मभाव-प्राप्त मनुष्य व्यावहारिक जीवनमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करता है। वह अपने शरीर, अपने भावों, उद्वेगों, संकल्पोंका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। आत्मभावसे प्रकाशित व्यक्ति शरीर, भाव, विचारमें उलझता नहीं। वह इन सबके ऊपर रहकर इनके रहस्यको भलीभाँति जानकर अपने कार्यमें और भी चतुर और कुशल हो जाता है।

जैसे आँख सारे संसारको देखती है, परंतु अपने-आपको नहीं देख पाती, उसी प्रकार यह आत्माका अन्तिम तत्त्व 'आत्म-निरीक्षण' अनुभवकी वस्तु है। इसे सिखाया नहीं जा सकता; स्वयं अन्त:प्रेरणासे ही इसकी सिद्धि होती है। मनुष्यको चाहिये कि परमात्मतत्त्व 'आत्मा' के नाते वह अपनेको विश्वव्यापी शक्तिका एक महान् केन्द्र समझे, उसीके अनुसार आचरण करे। जितनी ही यह भावना प्रबल होगी, उतनी ही वह विश्वशक्ति अपने भीतर केन्द्रित कर सकेगा।

जीवनके प्रत्येक क्षणमें शुद्ध आत्म-तत्त्वको अनुभव करनेका प्रयत्न नये जीवनका प्रवेशद्वार है।

नित्य-प्रतिके व्यवहारमें, अपने दैनिक जीवनमें, प्रत्येक क्षण अपने-आपको 'आत्मा' माना कीजिये। जितना ही आप आत्मासे सम्बन्ध स्थापित करेंगे, उतना ही जीवन उच्च भूमिकामें प्रवेश करेगा। अपने कार्योंको देखकर मालूम कीजिये कि क्या वे आत्म-तत्त्वके गौरवके अनुरूप हैं? या उससे नीचे उतरे हुए हैं?

रखना। यह दुर्गुण जिस दिन भारत-निवासियोंने अपनाया, उसी दिनसे उनका पतन आरम्भ हो गया। हम अपने अकेले-अकेले स्वार्थको महत्त्व देने लगे। संगठन टूट गया। विदेशियोंके आक्रमणोंने देशको जर्जरित कर दिया। हमने अपने अन्तरमें दूसरोंकी बात सोचनातक छोड़ दिया। देश, राष्ट्र, समाज, संसार हमारी दृष्टिमें कुछ न रहा। 'अपने मतलबसे मतलब' की दूषित मनोवृत्तिको सर्वोपरि समझ लिया। फलतः हम पतनके गहरे गर्तमें जा गिरे।

जगत्-पिता चाहता है कि मनुष्यको समृद्धि प्राप्त हो; उसे संसारकी सबसे अच्छी वस्तुएँ प्राप्त हों; क्योंकि उसने संसारकी सब उत्तम वस्तुएँ मनुष्यके लिये ही तो बनायी हैं। यदि हम उन्हें प्राप्त करनेमें असफल होते हैं तो उसका कारण पृथक्-पृथक् प्रयत्न है। यदि हम सामूहिकरूपसे पूर्ण संगठित होकर प्रयत्न करें तो ये समृद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

यदि तुम आत्मवादी बननेके आकांक्षी हो तो सबकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति है—इसी सिद्धान्तको क्रियात्मकरूपमें ग्रहण करो। केवल व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे कार्य न करो; वरं यह भी सोचो कि कार्यका परिणाम हम सबके लिये क्या होगा। 'मैं अकेला' के संकुचित दायरेको छोड़कर 'हम सब' की ओर जितनी प्रगति होगी, उतनी ही तुम्हारी आत्मोन्नति गिनी जायगी।

देशके सुखमें ही व्यक्तिका सुख निहित है। दुःखी पड़ोसियोंके मध्यमें रहकर बड़ा आदमी भी शान्तिपूर्वक सुख नहीं भोग सकता। अतः हे आत्माओ! उठो, गृह-गृहमें, मनुष्य-मनुष्यमें प्रेमका आत्मभाव भर दो। खुदगर्जीकी जंजीरें तोड़ डालो और परमार्थरूपी मुक्तिकी ओर बढ़ो। आत्माका दायरा बढ़ाकर उसमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियों, जीव-जन्तुओंको सम्मिलित करो।

सच्ची आध्यात्मिकता क्या है?

सच्ची आध्यात्मिकताका अभिप्राय यह है कि हमारी सत्-प्रवृत्तियों, दैवी सम्पदाओं, सात्त्विक भावनाओंकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो; हमारा शरीर आत्माका पवित्र मन्दिर बने, हम व्यर्थके संशयों, भ्रमों, मिथ्या भय-भ्रान्तियोंके मायाजालसे, क्षुद्र इच्छाओंके थपेड़ोंसे बचें। मन, बुद्धि, इन्द्रियके द्रष्टा एवं अधिष्ठाता बनें, निश्चय-बलकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करें, ईश्वरेच्छाके अनुकूल

मनुष्यके हृदयमें रहनेवाले आत्मविस्तारके भाव, आत्मिक गुणोंका अभ्युत्थान, समग्र संसारके जनसमुदायके साथ-साथ पशु-पक्षी इत्यादि सबमें एकमात्र उच्च सत्ता अपनी आत्माके दर्शन करना है।

जबतक मनुष्य 'मैं सबसे बड़ा हूँ। मेरे-जैसा कोई नहीं है। मैं अकेला ही सब कुछ खा लूँ, पहन लूँ, आनन्द मना लूँ; मुझे दूसरेसे क्या मतलब। दूसरे मरते हैं, तो मरा करें; मेरी उन्नति होती रहे।'—ऐसी स्वार्थमयी भावना रखता है, तबतक उसके आत्मभावका दायरा संकुचित होता चलता है।

ऐसा व्यक्ति केवल अपने हितकी बात ही सोचता है, अपने अर्थ-साधन और वासना-पूर्तिमें ही लिप्त रहता है। चूँकि वह स्वयं स्वार्थी होता है, उसे संसार मतलबी, खुदगर्ज, संकीर्णहृदय कहकर पुकारता है।

इसके विपरीत जब मनुष्य अपने आत्मभावका विस्तार करता है, तब वह 'मैं एक' के स्थानपर 'हम सबकी उन्नति' की बात सोचता है। वह दूसरेकी सेवा, सहायता, प्रेम, सहूलियतका अधिक ध्यान रखता है। उसका प्रेम, सहानुभूति, करुणा संसारके समग्र व्यक्तियों, पशुओं, पक्षियों, कीट, पतंग तथा छोटे-बड़े जीवोंको प्राप्त होती है। इन सबसे प्रेम करनेके कारण उसके आत्मभावका दायरा खूब बढ़ता है।

संकीर्ण मनोवृत्तिके दुष्परिणाम

संकीर्णता (अर्थात् सीमाबन्धन—अपने-आपको क्षुद्र दायरेमें बाँधना) हमारी एक दूषित आदत मात्र है। हमारी उन्मुक्त आत्मामें कोई बन्धन नहीं। वह वायुके समान विस्तृत है। चारों ओर उसका प्रशस्त विस्तार है। जगत्पिता परमात्मा नहीं चाहता कि उसके पुत्रोंमें खुदगर्जी, अकेले-अकेले खानेकी दुष्प्रवृत्ति अभिवृद्धिको प्राप्त हो।

शास्त्रोंमें अनेकों स्थानोंपर निर्देश किया गया है कि 'जो अकेला खाता है, वह पाप खाता है। जो केवल अपने लिये सोचता है, वह नरककी बात सोचता है।' हम ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मद, मत्सरकी भट्ठीमें दग्ध हो रहे हैं। हमारी पतितावस्थाका मूल कारण है—क्षुद्र स्वार्थ—आत्मभावके दायरेको संकुचित

ऊलजलूल तर्कबुद्धिके प्रपंचमें फँस जाता है। फलस्वरूप जीवन अत्यन्त कष्टमय और विघ्न-बाधा-संकुल हो जाता है। पवित्र जीवनके विरोधी तामसी विचार सजग हो उठते हैं। चित्त उद्विग्न होकर क्रोध, मोह एवं दम्भसे आच्छादित हो जाता है। तत्पश्चात् साधक व्यर्थके तर्क प्रस्तुत कर साधनका त्याग कर देता है और कुचेष्टामें प्रवृत्त हो जाता है।

ईश्वरसे ऊबनेका अर्थ है सत् चेष्टासे विमुख हो जाना और असत्‌की ओर उन्मुख होना। स्वर्गकी ओरसे मुख मोड़कर नरककी सड़कपर चलनेके लिये प्रस्तुत होना। भलाईके प्रशस्त मार्गको त्यागकर बुराईके रास्ते चलना। जीवनके प्रकाशमय बाजूकी ओरसे नेत्र मूँदकर अन्धकारकी ओर चलनेका प्रयत्न करना। आज संसारमें असंख्य व्यक्ति हैं, जो ईश्वरको त्यागकर सुखके निमित्त सर्वस्व त्यागनेको प्रस्तुत हैं, मारे-मारे फिर रहे हैं और शान्ति-प्राप्तिके लिये अनेक उपायोंका अवलम्बन कर रहे हैं। कोई 'हाय टका! हाय टका! टका कैसे उत्पन्न हो, कैसे अधिकाधिक द्रव्यकी प्राप्ति हो; किसी तरह क्यों न हो, टका पैदा होना चाहिये; तभी दुःख दूर होगा।'—इस भावनाके वशीभूत होकर उचित या अनुचित रीतिसे द्रव्य उत्पन्न करनेमें लगे हैं। कोई ऐसे हैं जो हिंसा, चोरी, झूठ, लूट-खसोट, मार-काट, सीनाजोरी, विश्वासघात, विलासप्रियता, व्यभिचार, बलात्कार, विषयासक्तिमें ही सुख समझकर बहक रहे हैं। छल, कपट, दम्भ, मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, जालसाजी और चालबाजीका दौरदौरा है; जुआ भी कुछ न्यून नहीं; सट्टेको सर्वस्व समझनेवालोंकी संख्या भी कम नहीं।

ईश्वरीय अंशसे दूर हो जानेपर मनुष्यके हृदयमें ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और प्रतिहिंसाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। पारस्परिक वैरभाव, मन-मुटाव और शत्रुताके कलुषित विचार सजग होने लगते हैं। भाई-भाईमें अनबन होती है, पिता-पुत्रमें खिंचावट, मित्र-मित्रोंमें वैमनस्य और स्त्री-पुरुषमें घोर कलह उत्पन्न हो जाती है। चारों ओर अन्याय और अत्याचार छा जाता है; लोग क्रोधसे मत्त हो उठते हैं; लोभकी मात्राकी वृद्धि होने लगती है। असंतोष और तृष्णाकी कोई मर्यादा नहीं रहती।

ईश्वरीय चेतनाको लुप्त कर देनेसे पवित्रता, संयम, शान्ति भी लुप्त हो जाती है। भगवान्‌की सत्ताको अपनेमें अनुभव करनेसे हम जिस सुखको खोजते